आज़ादी का
अमृत महोत्सव

ISSN 0974 0053

संस्थापक–सम्पादक
यशदेव शल्य

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 37, अंक 2
जुलाई-दिसम्बर, 2023

वर्ष 37, अंक 2 जुलाई–दिसम्बर, 2023

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाणमासिक

संस्थापक–सम्पादक
यशदेव शल्य

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

परामर्शदाता

1. **रामजी सिंह,** 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. **अशोक वाजपेयी,** सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. **रमेशचन्द्र शाह,** एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. **अशोक वोहरा**, सी–748, विकासपुरी, नई दिल्ली–110018

संस्थापक-सम्पादक

यशदेव शल्य

सम्पादक

1. **अम्बिकादत्त शर्मा,** सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–293668 मो. 09406519498
2. **प्रदीप कुमार खरे,** आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर,

   भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal), U.G.C. Care List : Arts & Humanities, Sl.No. 310

वार्षिक शुल्क	आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 200 / –	व्यक्तिगत : रु. 5000 / –
संस्थाएं : रु. 500 / –	संस्थाएं : रु. 10000 / –

आजीवन / वार्षिक सदस्यता हेतु राशि ''प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन'' के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

कमलनयन एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा **दर्शन प्रतिष्ठान**, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

अनुक्रमणिका

1. शिक्षा में 'स्व' केंद्रित बदलाव की अपरिहार्यता — 5
   गिरीश्वर मिश्र

2. भारतीय चित्त, मानस और काल : वैश्विक एवं वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य — 13
   बृजेन्द्र पाण्डेय

3. प्रोफेसर टी.आर.वी. मूर्ति : अद्वय और अद्वैतवादी तत्त्वमीमांसा के विश्वतोमुख प्रतिष्ठापक — 52
   संजय कुमार शुक्ल

4. ध्यान की अपारंपरिक अवधारणा : जिद्दू कृष्णमूर्ति की दृष्टि — 75
   प्रियव्रत शुक्ल

5. वैश्विक संकट और गांधीय विकल्प की प्रासंगिकता — 88
   कमलनयन, रामनारायण मिश्र

6. अहिंसा की श्रामण्य दृष्टि और गाँधी — 111
   राजवीर सिंह शेखावत

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है?क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

11. यशदेव शल्य की सभी मौलिक कृतियों का संग्रह अब 'यशदेव शल्य समग्र' शीर्षक से चार खण्डों में उपलब्ध है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य 1,600/- तथा चारों खण्डों का मूल्य 6,400/- है। प्रकाशक :- डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., वेदश्री, एफ- 395, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015, दूरभाष 011-25453975

शिक्षा में 'स्व' केंद्रित बदलाव की अपरिहार्यता

गिरीश्वर मिश्र

सनातन यानी सतत वर्तमान की अखंड अनुभूति के लिए तत्पर मानस। भारत वर्ष अहंकार का उच्छेदन और अतिक्रमण कर सबके कल्याण के लक्ष्य को अंगीकार करते हुए शिवोऽहं का उद्घोष करने वाला देश था। ऐसे मानस वाला भारत अंग्रेजी राज में लगभग दो सदियों तक यूरोपी उपनिवेशवाद का प्रत्यक्ष लक्ष्य बना। उस अवधि में राजनैतिक तौर पर गुलाम बनने की फलश्रुति अंततः मानसिक दासता के रूप में हुई जिसके अंतर्गत भारत के सांस्कृतिक अतीत को मृत और विखंडित करार दिया गया। इस दौरान यहाँ की समृद्धि की यथेच्छ लूट तो की ही गई, साथ ही साथ यहाँ के मानस को भी इस तरह अनुबंधित किया गया कि आज भी हम उससे उबर नहीं पा रहे हैं। यह एक छल–छद्म की तकनीकी से देश की आत्मा का सुनियोजित विभाजन था जो पश्चिमी आधुनिकता और विकास के आवरण में उपकार के रूप में किया गया ताकि असभ्य (इंडियन!) जन को (पश्चिमी) सभ्यता का पाठ पढ़ाया जा सके। अंग्रेजों द्वारा भारतीयों को अपरिपक्व, मनोरोगी तथा शासन करने की योग्यता से विहीन घोषित किया था। जैसा कि सभी जानते हैं यहाँ की ज्ञान परम्परा को लार्ड मैकाले ने पूरी तरह अनुपयुक्त घोषित किया था। यद्यपि उसकी तजबीज में भारत के उद्धार के लिए अंग्रेजी शिक्षा जरूरी थी परंतु उसकी दूरदर्शी घातक नीति का उद्देश्य स्पष्टतः अंग्रेजी मानसिकता वाले भारतीय जन को तैयार करना था। दूसरे शब्दों में उनकी इच्छा थी भारतीयता का एक नया संस्करण बनाना जो भारत के भाव से मुक्त ही न हो बल्कि उसके प्रति नकारात्मक नजरिया भी विकसित करे। भारतीयों की रुचि को बदल कर पश्चिमी विचार–सरणि और जीवन शैली में दीक्षित करने की योजना पर अंग्रेजों द्वारा अच्छी तरह अमल किया गया। इसका परिणाम हुआ भारतवासियों द्वारा आत्म–विस्मरण

ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

का सहर्ष वरण और आत्म–हीनता को अंगीकार करना। हम अपने स्व को उस तरह से देखने और आंकने लगे जो हम थे ही नहीं। परंतु वैसा बनाना हमारी शिक्षा का उद्देश्य बन गया । गीता का वचन कि 'परधर्म भयावह होता है' विस्मृत हो गया। ऐसे में 'भारतीय' और 'भारतीयता' जैसे विचार को लेकर भारतीयों को असहज बनाने की अंग्रेजों की मुहिम सफल रही। अंग्रेज गए परंतु भारतीयों को अंग्रेजियत में डुबोकर गए और सांस्कृतिक पहचान के संकट का बीज बो गए। भारत को वाया इंडिया समझने की सीख दे गए। वे भारत तक भारत को पहुँचने की राह को इस तरह कंटकाकीर्ण कर गए कि हम आज तक उससे उबर नहीं सके। देश के संविधान को कहना पड़ा कि 'देश तो इंडिया है जिसका अर्थ भारत है': India that is Bharat। व्यक्ति या देश के नाम का अनुवाद शायद ही कहीं आधिकारिक रूप से होता हो पर हमने स्वीकार किया। देश के स्व को लेकर यह ऊहापोह किस संशय–वृत्ति का परिचायक है यह हम सबके लिए विचार का प्रश्न है।

औपनिवेशीकरण की लम्बी प्रक्रिया पर विराम लगाने और स्वराज पाने के लिए स्वतंत्रता संग्राम हुआ। इसके फलस्वरूप सन् 1947 की ऐतिहासिक घड़ी में अंग्रेजों के राजनैतिक प्रभुत्व से मुक्ति तो मिली पर औपनिवेशीकरण अंग्रेजों के साथ वापस नहीं गया। वह यहाँ के जीवन और विचार में कुछ इस तरह रच–बस गया था कि भारतीय समाज के एक बड़े भाग के लिए इसकी औपनिवेशिकता की याद भी धूमिल पड़ गई। परिणामतः स्वतंत्रता के उपरांत ज्ञान के क्षेत्र में यूरोपीकरण कुछ और तीव्र हुआ। भारत के प्रति आयोजित बौद्धिक षड़यंत्र भारतीय ज्ञान–परम्परा के स्थगन के साथ उसे अनुर्वर भी घोषित कर रहा था। संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं द्वारा ज्ञान–परम्परा और संस्कृति के प्रवाह को अनदेखा करते हुए एक सुपठित समाज को अनपढ़ बना दिया गया। इसी क्रम में संस्कृत भाषा के विनाश की घोषणा भी हुई। उसे कालबाह्य घोषित करने की दुरभिसंधि का मूल मंतव्य देश के मानस को आघात पहुँचाना था। भारत की विभिन्न लोक भाषाओं को भी उनका सम्मान नहीं मिला और उनके प्रयोग करने वाले समाज को हाशिए पर डालने का ऐसा उपक्रम हुआ कि पंद्रह प्रतिशत लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा होने पर भी अंग्रेजी न्याय, स्वास्थ्य, शिक्षा, राज–काज आदि में एकछत्र अधिकार जमा बैठी। दूसरे शब्दों में भारतीय समाज के बहुलांश को जीवन के इन

प्रमुख क्षेत्रों तक जरूरी पहुँच से खारिज कर दिया गया। गैर–अंगरेजीदाँ भारतीय की पहचान वास्तव में आज भी निरीह, असहाय और पर – निर्भर समुदाय की है जो अपने ही देश में भेद–भाव और घोर उपेक्षा का शिकार हो रहा है। उसके आत्म–बोध और स्व का जो दमन अंग्रेजों द्वारा हुआ था बदस्तूर जारी है। देश में प्रचलित शिक्षा की व्यवस्था, विषय–वस्तु और उसके निष्पादन की पद्धति दोनों ही दृष्टियों से अधिकांशतः औपनिवेशिक मानस के वर्चस्व को ही स्थापित करने में जुटी रही। इसने हमारे स्व के बोध को गहरे ढंग से प्रभावित किया। इसकी चिंता व्यक्त करते हुए राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी प्रसिद्ध काव्य कृति 'भारत–भारती' में 1914 में ही कहा था 'हम कौन थे, क्या हो गए और क्या होंगे अभी?' यह प्रश्न छेड़ कर उस पर विचार करने के लिए वे जन–मानस को आमंत्रित कर रहे थे। सन तीस के करीब दार्शनिक के सी भट्टाचार्य विचारों में स्वराज (स्वराज इन आइडियाज) की याद दिला रहे थे, परंतु इस तरह का विचार स्वतंत्र भारत में संभवतः राज्य शक्ति की दृष्टि में खतरनाक या अप्रासंगिक था। गांधी जी की दृष्टि में शिक्षा के जिस सुंदर वृक्ष को अंग्रेजों ने उखाड़ फेंका था उसे उसके भाग्य पर छोड़ दिया गया। जो शिक्षा की बयार चली वह पाश्चात्य चिंतन को ही मानक ज्ञान स्वीकार करने के कारण उसी के अनुकरण और प्रचार–प्रसार के साथ अधिकाधिक प्रतिबद्ध होती गई। उसी के अनुकूल शिक्षा की संस्कृति भी विकसित हुई जो न पश्चिमी ज्ञान में वृद्धि करने वाली थी न ही भारत के स्वत्व से जुड़ने का अवसर दे रही थी।

शिक्षा का मूल उद्देश्य आत्म–परिष्कार होता है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान कर जीवन में अर्थवत्ता पाने की ओर अग्रसर होता है। जब शिक्षा पाते हुए व्यक्ति का नए ज्ञान और कौशल से परिचय होता है तथा उसकी दक्षताओं की उपलब्धि उसे समृद्ध करती है तो उस व्यक्ति का नया जन्म होता है। सभ्य समाजों ने व्यक्ति–निर्माण की इस प्रक्रिया का व्यक्तिगत जीवन और समाज दोनों के स्तरों पर महत्त्व को समझते हुए शिक्षा के लिए स्वतंत्र संस्थाओं का निर्माण किया। तक्षशिला और नालंदा जैसी विश्वस्तरीय शिक्षा के भारतीय केंद्र स्वायत्त रूप से कार्य करते थे और मानवीय मूल्यों की स्थापना और संवर्धन का उद्देश्य पूरा करते थे। इन संस्थाओं के लिए समाज संदर्भ था, स्रोत था और संपोषक भी था। जीवन के कुछ वर्ष सघन रूप से शिक्षा पाते हुए ज्ञान अर्जित करने के लक्ष्य

को समर्पित करने का प्रावधान बनाया गया। प्राचीन भारत में ब्रह्मचर्य जीवन का प्रथम आश्रम था जिसके अंतर्गत विद्यार्थी को लगभग पचीस वर्ष सिर्फ अध्ययन– मनन के कार्य में नियोजित किया जाता था। यह शिक्षा के उपरांत गृहस्थ जीवन की आधारशिला के रूप में स्वीकृत रहा। यह व्यवस्था जीवन और समाज से आबद्ध थी। आदमी अपने समाज का ऋणी था। इस तरह शिक्षा का व्यापक स्व–बोध के साथ घनिष्ट सम्बद्ध स्वीकार किया गया था।

समकालीन विमर्श में स्व को, अब कुछ लोग अस्मिता/व्यक्तित्व/पहचान भी कहने लगे हैं। वस्तुतः यह अस्तित्व के आकार की रूपरेखा की अभिव्यक्ति होती है। मनुष्य शब्द में 'मनु' का शाब्दिक अर्थ चिंतन या सोच–विचार करने की क्षमता है। 'मनुर्भव' का निदेश देने का अर्थ चिन्तनशील होना है। मनुष्य में भाषा और बुद्धि के संस्कार प्रबल होते हैं जो उसे स्वयं को भी परिभाषित करने की क्षमता प्रदान करते हैं। मनुष्य स्वयं अपने बारे में एक सत्ता (इंटिटी) के रूप में सोच सकता है। वह खुद को विषय (ऑब्जेक्ट) और विषयी (सब्जेक्ट) दोनों ही भूमिकाओं में रख पाता है। आम बोलचाल में 'मैं' (आई) और 'वस्तुरूप मैं' (मी) के बीच संवाद सभी लोग सामान्यतः करते हैं। इस सिलसिले में मनुष्य स्वयं को परिभाषित करता है। ऐसा करते हुए वह अन्य प्राणियों से अपने को भिन्न करता है। परंतु यह कार्य समाज और संस्कृति की परिधि में ही सम्पन्न होता है। स्व–चेतना या आत्मबोध का ताना–बाना समाज में अनुभव के बीच ही रचा जाता है और सक्रिय होता है। ध्यातव्य है कि एक व्यक्ति के जीवन में स्व या आत्म की रचना शैशवावस्था में उसके सामाजिक परिवेश में ही घटित होती है। माता–पिता बच्चे का जो नाम रखते हैं उसे अपना कर बच्चा स्वयं को उसी रूप में देखना शुरू करता है। फिर दूसरों के सामने वही कह कर अपने को अभिव्यक्त भी करने लगता है। ऐसे ही जो विशेषताएँ उसकी बताई जाती हैं उनको भी वह अंगीकार करने लगता है। इस तरह दूसरे लोग उस आइना का काम करते हैं जिसमें अपनी शक्ल या परछाईं दिखती है। ये आइने कई तरह के होते हैं या हो सकते हैं और हर एक आइने में व्यक्ति को अपनी छवि भिन्न–भिन्न दिखाई पड़ती है।

आत्म–बोध की बात समुदाय, समाज और देश की आत्म–छवि के बारे में भी लागू होती है। हम अपने समाज के स्व को भी गढ़ते हैं और उसमें बदलाव भी लाते हैं। देश के नाम को ही ले लें। इसे भारत, आर्यावर्त, जंबू

द्वीप, हिंद, हिंदुस्तान और इंडिया आदि भी कहा जाता है। इन सब नामों या अभिधानों में जिस देश को अभिहित किया गया है उसे कहने के हर ढंग का खास प्रयोजन है। किसने उसका किस अर्थ में प्रयोग किया उसका अपना इतिहास और तर्क है। देश सिर्फ भूगोल ही नहीं होता है। वह तो होता ही है पर साथ–साथ वह उस स्थान पर निवास करने वाले लोगों की विशेषताओं, भावनाओं, स्वप्नों और प्रतिबद्धताओं का समुच्चय भी होता है और वहाँ के लोग उसका अपने मानस में अनुभव भी करते हैं। इसीलिए इस देश के लोग आज भी 'भारत माता' और 'बंदे मातरम' की ध्वनि सुन कर झूम उठते हैं। स्वतंत्रता संग्राम में अनेक वीरों ने इसके लिए खुशी–खुशी अपने प्राण तक न्योछावर कर दिए थे। इसका प्रतीक तिरंगा झंडा शांति, शौर्य, अनुशासन, धर्म और प्रगति जैसे महान भावों को व्यक्त करता है। वह कपड़े का टुकड़ा देश के गौरव का प्रतीक है। वह देश जिसकी रक्षा और प्रगति के लिए सारे देशवासी कटिबद्ध रहते हैं उसे बताने के लिए झंडा एक सहज माध्यम है जिसका कोई विकल्प नहीं है। वह देश के स्तर पर आत्म–बोध का ही हिस्सा है।

देश का स्व या स्वदेश का भाव नागरिकों के लिए देश के साथ तादात्म्य का मुख्य आधार होता है। आज सामाजिक–राजनैतिक विमर्श में 'भारत' और 'भारतीयता' के प्रश्न विवाद के विषय बनाए जा रहे हैं। इसके प्रति विचार करते हुए कई तरह के वैचारिक और राजनैतिक आग्रह और दुराग्रह काम कर रहे हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि देश और राष्ट्र महज भू भाग न रह कर एक मानव समुदाय के स्वप्न से भी जुड़े होते हैं। आज कई गहन गंभीर बौद्धिक चिंतक देश को एक विवादास्पद (कंटेस्टेड) अवधारणा मानते हैं परंतु अधिकतर भारतीय जन इस बारे में स्पष्ट सोच रखते हैं। वे भारतीय होने को यहाँ की जीवन व्यवस्था के अंग के रूप में ही लेते हैं। उनके लिए भारत और भारतीयता भूगोल से अधिक भाव–लोक के विषय हैं। यह समाज द्वारा गढ़ी गई एक विचार की कोटि भी है जो एक आकांक्षा और आदर्श की स्थिति को इंगित करती है। अपने को 'भारतवासी' कह कर हम एक बड़े समुदाय के हिस्से बन जाते हैं जो ऐसे ही दूसरे समुदायों से भिन्न होती है। यह समुदाय सभ्यता और संस्कृति की एक बड़ी विरासत का वारिस है। गौरतलब है कि यहाँ का रहने वाला कई तरह की पहचान रखता है। लिंग, धर्म, जाति, क्षेत्र, भाषा, राज्य, रीति–रिवाज और

आर्थिक वर्ग आदि की दृष्टि से उसकी (ऊपरी) पहचान में बड़ी विविधता दिखती है। इन सभी पहचानों का भिन्न–भिन्न अर्थ, अभिप्राय और प्रयोजन होता है। उन सबसे लगाव भी पैदा हो जाता है। प्रायः ये अस्मिताएँ एक दूसरे की पूरक होती हैं। इनकी बहुलता एक स्वाभाविक स्थिति है जो भिन्न–भिन्न संदर्भों में और अस्तित्व के विभिन्न स्तरों पर प्रासंगिक भी है तथा अपेक्षित भूमिकाओं को रचती है। उन सबको ले कर ही सामाजिक अस्मिता का एक मुकम्मल चित्र बनता है। यह चित्र भारत की एक सांस्कृतिक इकाई वाले चित्र को स्पष्ट करता है। निहित स्वार्थवश भारत की एकल सांस्कृतिक पहचान को छोटी भूमिकाओं के सामने रख कर प्रश्नांकित करने की प्रवृत्ति भी उभर रही है। इससे आत्म–संशय और ऊहापोह की स्थिति जरूर बन रही है और हममें से कई लोग संशयात्मा होने लगे हैं।

बिडंबना यह है कि अपने अस्तित्व की परिभाषा के पैमाने अभी भी हमारे अपने नहीं हैं। यह विचित्र किंतु सत्य है कि भारत देश और भारतीय की कोटियों के बारे में हम अपने विचार की जगह यूरो–अमेरिकी विचार और विचारकों की साखी को अधिक महत्त्व देते हैं जो औपनिवेशीकरण की देन है हम सात दशक बाद भी उससे उबर नहीं पाये हैं। भारत को भारत के नजरिए से देखने के लिए अभी भी कुछ लोग तैयार नहीं होते हैं। हजारों साल की परम्परा के बावजूद अपने स्वरूप की शिनाख्त को लेकर शंका और भ्रम सभ्यता और संस्कृति के उधारी के (कु) पाठ का ही परिणाम है। आधुनिक राष्ट्र–राज्य (नेशन स्टेट) के विचार के कुछ हजार साल पहले से भारत देश मौजूद था। इसकी पुष्टि अनेक ऐतिहासिक साक्ष्यों से होती है। विविधताओं के साथ सह अस्तित्व यहाँ के स्वभाव में है। एक से बहुल होना (एकोऽहं बहुस्याम), एक सत्य को अनेक प्रकार से देखना (एकं सत् विप्राः बहुधा वदंति) तथा विविध प्रकार के विचारों के स्वागत (आ नो भद्राः क्रतवो यांतु विश्वतः) का साहस होने पर ही साथ चलने, साथ बोलने और एक सा मन होने का संकल्प यहाँ वैदिक काल से सजीव होता रहा है (संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्)। इस तरह की दृष्टि वाले भारत की समृद्धि, ज्ञान और दक्षता की ख्याति से आकृष्ट हो लोभवश शक, हूंण, कुषाण, ग्रीक, मुस्लिम, फ्रांसीसी और अंग्रेज आए। लगभग हजार वर्षों की अवधि में इन विदेशियों द्वारा भारत पर आक्रमण किया गया। इस कड़ी में अंग्रेज अंत में आए और व्यापार के बहाने आकर सत्ता पर काबिज हो गए। भारत पर

लगभग दो सौ वर्ष के शासन के दौरान समृद्ध भारत को कंगाल बनाने और सामाजिक–शैक्षिक हस्तक्षेपों के माध्यम से उसे वैचारिक और मानसिक उपनिवेश बनाने की प्रतिज्ञा पूरी की। भारत को भारत से दूर करने का उनका षड़यंत्र निश्चय ही दूरदर्शी था और उसका प्रबल प्रभाव आने वाली पीढ़ियों पर पड़ा।

औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण के चलते हम अपनी संस्कृति के प्रति अनुदार नहीं तो तटस्थ जरूर होते गए। इसके फलस्वरूप देशज विचार और ज्ञान की परम्परा अस्पृश्य होती गई। उनके द्वारा विकसित ज्ञान के साँचे को अपना कर हमने अपने ज्ञान से कन्नी कटा ली। स्वतंत्र भारत में भी ज्यादातर उसी दृष्टि को स्थापित कर पल्लवित किया जाता रहा। आज औपचारिक शिक्षा में सर्जनात्मकता की जगह अनुकरण की प्रधानता सर्वविदित है। सूचना और संचार क्रांति ने इस तरह के प्रभाव को अधिक सुभीता वाला बना दिया है। आवश्यकता है कि संगति–विसंगति की अनुभूति से उत्पन्न चैतन्य द्वारा अकादमिक आत्म–परीक्षण कर सैद्धांतिक व्यावहारिक संगति की कसौटी पर गुजरते हुए परिष्कार के लिए नवीकरण तथा नवोन्मेषी प्रवृत्तियाँ आगे बढ़ाई जाए। अस्तित्व का संधान करने में एकांगी की जगह स्मृति, वर्तमान और भविष्य को लेकर ही पूर्णता का अभिप्राय सिद्ध हो सकेगा।

किसी भी वस्तु या घटना की पहचान करनी हो तो उसके लिए जरूरी होता है कि उसकी आंतरिक विशेषताओं या गुणों की पहचान हो और उसे दूसरी चीजों से अलग किया जा सके। भारत देश के स्वभाव को देखा जाय तो धर्म से अनुप्राणित जीवन–दृष्टि ही उसे परिभाषित करती है जिसमें मनुष्य और प्रकृति ओतप्रोत हैं। इस मानुष भाव की पहचान के लिए इतिहास के एक विंदु पर 'हिंदू' नाम दिया गया। यह संज्ञा सामाजिक बोध से जुड़ गई। जीवन का स्वागत करने के लिए तत्पर यह बोध समग्र सृष्टि के साथ जुड़ने की प्रक्रिया है। यह सनातन धर्म है जो देश और काल का अतिक्रमण करते हुए सबको जीवनी शक्ति से बांधता है।

मनुष्य होने का अर्थ है– आत्म–विस्तार। भारतीय स्व के संधान का लक्ष्य है अपनी ही तरह दूसरों को जानना –आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति। इस प्रकार के आत्म–विस्तार में सीमित अहं भाव का विसर्जन करते हुए आदमी अपने को सबमें और सबको अपने में देख पाता

है। आज यह भाव प्रसुप्त सा है। यह याद रखना आवश्यक है कि परम्परा–प्रवाह की निरंतरता के आलोक में ही आत्म की प्रतिमा या छवि को प्रतिष्ठित किया जा सकता है। यह भी उल्लेखनीय है कि सारे झंझावातों के बीच परम्परा की दूब उगती और पनपती रही है। वह पुनर्नवा है और उसमें युगानुकूल होने की क्षमता भी मौजूद है। उसके पुष्पित–पल्लवित होने के लिए शिक्षा के आयोजन से सहयोग और समर्थन की दरकार है। भारतीय ज्ञान परम्परा स्वभाव से एक समावेशी दृष्टि का पोषण करती है जो सारी सृष्टि में परस्पर संबद्धता की पक्षधर है। उसका सात्विक लक्ष्य उस अव्यय भाव की अनुभूति कराना है जो विभक्त में अविभक्त तत्त्व की पहचान है। आज की स्थानीय और वैश्विक सभी समस्याओं के समाधान के लिए हमारी कामना है :

असतो मा सद्गमय!
तमसो मा ज्योतिर्गमय!!
मृत्योर्मामृतं गमय!!!

यह लक्ष्य मुक्तिकामी शिक्षा से ही सिद्ध हो सकेगा। आशा है राष्ट्रीय शिक्षा नीति–2020 की पहल में इसे समुचित स्थान मिलेगा। भारत के स्वत्व को प्रतिष्ठित कर के ही शिक्षा अपने लक्ष्य को पा सकेगी।

307, टावर-1, पार्श्वनाथ मेजेस्टिक फ्लोर्स,
इंदिरापुरम, ग़ाज़ियाबाद - 201014 उत्तरप्रदेश

भारतीय चित्त, मानस और काल : वैश्विक एवं वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य

बृजेन्द्र पाण्डेय

यह एक शुभ संकेत है कि कुछ सुधिजन सदियों के विजातीय और औपनिवेशिक वर्चस्व के कारण धुँधले, अस्पष्ट और लगभग विस्मृत हो चले 'भारत—बोध' अथवा अपने 'आत्म—बोध' के पुनर्स्मरण और पुनर्प्रतिष्ठा को लेकर गम्भीरता और स्थिरता के साथ सक्रिय हैं। इन सुधिजनों का यह प्रयत्न दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण और इस प्रकार के अन्य प्रयत्नों से अलग हटकर है। देखा यह गया है कि पिछले तीन दशकों में जब—जब भारतीय जनता पार्टी की सरकार सत्ता में आयी, अपने 'इतिहास—बोध' के पुनर्नवीनीकरण के यत्न के सहारे विजातीय और औपनिवेशिक कुहासे से बाहर निकलने की हमारी छटपटाहट दिखाई देने लगती है। कुछ इस प्रकार के विचार, संस्थाएँ और व्यक्ति महत्त्व पाने लगते हैं। किन्तु सत्तावसान के साथ ही उनकी उत्तेजना शान्त और गति धीमी पड़ जाती है। कुछ सुधिजनों ने पहली बार अपने 'आत्म—बोध' को जागृत और प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से एक ईमानदार और सत्ता—निरपेक्ष कोशिश शुरू की है। दूसरे, इससे पूर्व और अभी भी अन्य अनेक प्रकल्पों में 'भारत—बोध' की या तो एक नकारात्मक अथवा विरोध—आधारित छवि गढ़ने की कोशिश की जाती रही है, अथवा 'विश्व—गुरु' जैसे नारों के सहारे एक खोखले वर्चस्व का दिवास्वप्न दिखाया जाता रहा है। इन प्रयत्नों की विशिष्टता इसमें है कि इन्होंने अपने 'आत्म—बोध' के लक्षणों की पहचान कराने वाले तथा उन्हें प्रतिष्ठित कराने वाले सकारात्मक, ठोस और स्थायी प्रकल्प 'शिक्षा' की न केवल पहचान की है, वरन् एक सुविचारित कार्य—योजना के तहत अपने इस अभियान को यथासम्भव पूर्ण शुचिता और मनोयोग से संचालित भी कर रहे हैं। यह भी एक बड़े संतोष की बात है कि आचार और विचार की आपाधापी के बीच भी इन सुधिजनों ने भारतीय जीवन—प्रणाली के

उन्मीलन – वर्ष 37, अंक 2, जुलाई–दिसम्बर 2023
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

समाजार्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक उत्स को सांगोपांग रूप से पहचानने की चेष्टा और स्वीकारने की हिम्मत दिखाई है। वस्तुतः भारतीय जीवन–विधान की इस परिपूर्णता को समझे–स्वीकारे बिना न तो भारतीय होने के वैशिष्ट्य का बोध सम्भव है और न ही इसके वैश्विक संदर्भ का। 'भारत–बोध' का प्रश्न टुकड़ों या खेमों की परिधि में विचार करने योग्य प्रश्न नहीं है। इसी प्रकार, अनर्गल वैश्विक वर्चस्व के अमूर्त नारों के सहारे भी इसका बोध नहीं हो सकता।

अपने को भारतीय कहने का एक विशेष अर्थ है, और ऐसा कहने की एक विशेष जिम्मेदारी भी है। ये विशेष अर्थ अमेरिकी, यूरोपीय या संयुक्त राष्ट्र–संघीय कहने में नहीं है और इसीलिए ऐसा कहने वालों पर वैसी गुरुतर जिम्मेदारी भी नहीं है, जो अपने आपको एक भारतीय कहने वाले पर हैं। इसीलिए भारतीय संदर्भ पर विचार करते हुए इस विशेष अर्थ और इस विशेष जिम्मेदारी को भी ध्यान में रखना चाहिए।

भारतीयता का मूलाधार तत्त्वशास्त्रीय है। सम्पूर्ण चराचर में एक ही परमतत्त्व की व्याप्ति अभिव्यक्त होती है। सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म का ही विवर्त्त है, विस्तार है। अद्वैत–दर्शन की यह मूल मान्यता ही भारतीयता का आधार है। यही कारण है कि भारतीयों ने सृष्टि को न तो अकारण अथवा अनात्मिक माना, और न ही सृष्टि के किसी भी अंश को निष्प्रयोज्य। भारतीयों के लिए सृष्टि का होना ही अपने में एक एकात्म घटना है। सृष्टि के माध्यम से विराट् पुरुष की अनेक–असंख्य अन्तर्भूत विभूतियाँ स्वरूप और विस्तार पाती हैं। ये विभूतियाँ सृष्टि में त्रिगुणात्मक रूप से अभिव्यक्त होती हैं। सृष्टि के प्राकट्य की यह त्रिगुणात्मक अनिवार्यता ही विराट् की वैश्विक अभिव्यक्ति के बीच देश–कालानुरूप विशिष्टता को जन्म देती है। विशिष्टता के इस स्वरूप के दर्शन हमें देश–काल–परिस्थिति–जन्य पदार्थों और मानव–समाज की व्यवस्थाओं में होते हैं। इसलिए एक ओर तो हम भारतीयों के लिए सम्पूर्ण सृष्टि को परमात्मा का विवर्त मानते हुए उसकी प्रत्येक अभिव्यक्ति में उसकी अन्तर्भूत विभूतियों का प्राकट्य देखना है, और इस प्रकार, सम्पूर्ण सृष्टि के साथ एक सहज, स्वाभाविक, आत्मीय तादात्म्य स्थापित करना है तथा दूसरी ओर, अपने देश–कालानुरूप प्राप्त विशिष्टता की रक्षा भी करनी है। कारण कि इसी विशिष्टता के सहारे हमारे

समाजार्थिक जीवन का नियमन तय होगा जो हमारे अन्दर विश्व–बोध की प्राप्ति के लिए आवश्यक दशाएँ और पात्रता उत्पन्न करेगा। संक्षेपतः,

- दैनन्दिन ऊपरी लक्षणों में अल्पाधिक समानता दृष्टिगत होने के उपरान्त भी विभिन्न सभ्यताओं में आत्यंतिक विशिष्टताएँ पायी जाती हैं।
- भारतीय सभ्यता की विशिष्टता उसके जिज्ञासामूलक होने में निहित है।
- यह जिज्ञासा आत्मबोध (कोऽहं) की जिज्ञासा है।
- समस्त भारतीय जीवन–प्रपंच के केन्द्र में यही आत्मबोध की जिज्ञासा सदा एक अवान्तर–कथा की तरह विद्यमान रहती है।
- भारतीयों के समस्त कर्मों के औचित्य तथा प्रत्येक महापुरुष की महत्ता का आधार भी इसी जिज्ञासा की पूर्ति पर आधारित है।
- इसी जिज्ञासा को केंद्रस्थ रखते हुए वेद–वेदांग (ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद) के रूप में भारत में एक व्यवस्थित तत्त्वशास्त्र की व्यवस्था है।
- इसी तत्त्वशास्त्र को उन्मीलित करने के उद्देश्य से षड्दर्शन (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त) और षडांग (छन्द, व्याकरण, निरुक्त, कल्प, ज्योतिष और शिक्षा) की व्यवस्था है।
- इस विद्या–साधना में निष्णात होने के लिए स्मृतियों और नीति–ग्रंथों के रूप में आवश्यक आचरण–विधान है।
- तत्त्वशास्त्र के अर्थ को लोक में प्रतिबिम्बित करने के उद्देश्य से पुराण और महाकाव्य हैं।
- युग–युगान्तर तक आचार्यों ने आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्वविद्या, नाट्यशास्त्र ध्वनिशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, तर्कशास्त्र, भाषाशास्त्र, शिल्पशास्त्र, वास्तुशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और समाज–विधान जैसे अन्यान्य उपयोगी विषयों पर ग्रंथों की रचना की है।
- ये वाङ्मय–प्रणाली जीवन में ऋत और धर्म का आधार है।
- इस पूरे प्रकल्प को अधिष्ठान प्रदान करने के लिए ही हमारे यहाँ समाज की व्यवस्था है।
- समाज का आधार भी त्रिगुण (सत्, रज् और तम्) पर आधारित तत्त्वशास्त्रीय चातुर्वर्ण–व्यवस्था ही है। यह हमारे अस्तित्व का दर्शन है। न तो किसी के मानने या न मानने से इसका कोई सम्बन्ध है, और न ही किसी काल–विशेष में किसी वर्ग–विशेष द्वारा इसकी निर्मिति की गई है। यह सृष्टि के साथ उत्पन्न दैवीय–व्यवस्था है।

- इस समाज–विधान में मनुष्य आत्मबोधमय अपने परम पुरुषार्थ (मोक्ष) को प्राप्त कर सके, इसके लिए धर्म की मर्यादा में अर्थ और काम के पुरुषार्थों की व्यवस्था है।
- इन पुरुषार्थों की व्यवस्थित उपलब्धि को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से दो प्रवृत्ति–प्रधान आश्रमों (ब्रह्मचर्य और गृहस्थ) तथा दो निवृत्ति–प्रधान आश्रमों (वानप्रस्थ और संन्यास) का विधान है।
- सृष्टि की अनन्त विभूतियों के नियामक देव–तत्त्व, संतति और कुल–परम्परा के नियामक पितृतत्त्व और अक्षय ज्ञान–परम्परा के वाहक और संपोषक के रूप में ऋषितत्त्व के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करने के निमित्त से क्रमशः देवऋण, पितृऋण और ऋषिऋण का विधान है।
- इस समाज–व्यवस्था के संपोषण हेतु कला–कौशल युक्त अर्थ–प्रणाली, इसके संरक्षण हेतु राजनीति–विद्या और इस समस्त प्रकल्प के उन्मीलन हेतु शिक्षा की व्यवस्था है।
- इसीलिए भारत में शिक्षा का अभिप्राय मनुष्य को आत्मबोध के लिए सुपात्र बनाने वाली कला से है।
- इसी प्रकार, भारत में संविधान का उद्देश्य मनुष्य को अपने परम पुरुषार्थ को प्राप्त करने हेतु पर्याप्त बल और वेग प्राप्त कराना है।
- जीवन के इस शास्त्रीय विधान के समानान्तर भारत में एक लोक–परम्परा भी विद्यमान है। जहाँ शास्त्र एक ओर लोक को प्रकाशित करता है, वहीं दूसरी ओर लोक भी शास्त्र को अभिव्यक्त करता है। सम्यक् अर्थों में यही लोकतन्त्र का आधार है।
- ध्यातव्य है कि आत्मबोध का प्रश्न, शास्त्र–प्रणाली, धर्म, विद्याएँ, समाज, अर्थनीति, राजनीति और शिक्षा के ये सभी प्रकल्प अन्योन्याश्रित हैं, ये या तो एक साथ प्रतिष्ठित होंगे या फिर एक साथ अप्रतिष्ठित होंगे।

भारतीय परम्परा अनागत सुख की कल्पना में वर्तमान को विस्मृत नहीं करती, वह अनागत को वर्तमान की सन्तति या फैलाव की दिशा के रूप में ही स्वीकार करती है। वर्तमान यहाँ अतीत के सनातन शाश्वत मूल्य को भविष्यत् की यात्रा के पाथेय के रूप में सौंपने वाला एकमात्र माध्यम है। इसीलिए जीवन में निरन्तरता और अखण्डता का अनुभव करते रहना यहाँ की स्वाभाविक वृत्ति है।

अद्वैत–दर्शन पर आधारित चराचर का सिद्धान्त, ब्रह्म के विवर्त पर आधारित एक से उद्भूत वैविध्य का सिद्धान्त, सृष्टि के साथ निरन्तरता और अखण्डता का सिद्धान्त तथा कर्मवाद का सिद्धान्त– ये ही वे तात्त्विक सिद्धान्त हैं जिनके आधार पर मनुष्य का व्यावहारिक जीवन स्वरूप ग्रहण करता है। भारतीय मनुष्य के व्यावहारिक जीवन की एक आधारभूत विशेषता आनृण्य–व्यवस्था है। वर्णाश्रम–व्यवस्था इस आनृण्य–व्यवस्था के कार्यान्वयन का माध्यम है। शतपथ ब्राह्मण (1–7–2–1–6) में देव–ऋषि–पितृ–ऋण के साथ–साथ भूत या मनुष्य–ऋण की बात आयी है। एक भारतीय होने का जो वैशिष्ट्य है, जो विशेष अर्थ है, जो विशेष जिम्मेदारी है, उसे तो ऋण–सिद्धान्त की सहायता से समझा ही जा सकता है, सम्पूर्ण सृष्टि के सापेक्ष एक भारतीय का क्या वैश्विक दाय है, इसे भी समझा जा सकता है। देवता–तत्त्व भारतीय जीवन–विधान से अनवरत, क्षण–प्रतिक्षण जुड़ा तत्त्व है। प्रत्येक स्थान, प्रत्येक परिधि, प्रत्येक बाह्य और आभ्यन्तर क्षमता का एक देवता होता है, और जब–जब मनुष्य इन द्वात्रों से कोई विभूति अर्जित करना चाहता है, उसे सम्बन्धित देव–तत्त्व के प्रति विनम्र और कृतज्ञ होना पड़ता है। यह विनम्र और कृतज्ञ होना ही देव–ऋण को चुकाना है। यज्ञ–अनुष्ठान मनुष्य और देवता–तत्त्व के बीच के सम्बन्ध का द्योतक तो है ही, यह हमारे अन्यान्य अनुष्ठानों, हमारे घरों और हमारे मन्दिरों के स्थापत्य तथा हमारे पूरे जीवन से किसी न किसी रूप, आकार या अर्थ से जुड़ा हुआ है। इस प्रकार, मनुष्य और देवता–तत्त्व के पारस्परिक व बाह्याभ्यन्तरिक सम्बन्धों पर आधारित यज्ञ–संस्था भारतीय समाज–संस्था की आधारशिला है।

इसी प्रकार, ऋषि–ऋण से उऋण होने का तात्पर्य यह है कि तपःपूत ऋषि–परम्परा द्वारा प्रदत्त अक्षय ज्ञान–परम्परा का धारक, वाहक, संरक्षक और सम्वर्द्धक बनने की सुपात्रता हमारे अन्दर विकसित हो। इस ऋण के रूप में हम पर अपनी सभी विद्याओं, कलाओं, शिल्पों और साधनाओं के साथ एक जीवन्त सम्बन्ध बनाये रखने की जिम्मेदारी सौंपी गयी है। इन दोनों ऋणों से उद्धार का व्यावहारिक आधार पितृ–ऋण पर टिका है। पितृ–ऋण से उऋण होने का अभिप्राय ऐसी सन्तान उत्पन्न करने से है जो हमारे पितरों के दाय का न केवल उत्तराधिकारी हो, वरन् इस दाय को समृद्धतर करने वाला भी हो। पितृ–ऋण का वास्तविक और व्यावहारिक

अर्थ है– परिवार–भाव के प्रति दायित्व का बोध। भारतीय समाज–रचना में आधुनिक पश्चिम की तरह नितान्त निजी या एकान्तिक व्यक्ति अपने आप में इकाई नहीं है, उसका अस्तित्व–बोध परिवार से संयुक्त होकर ही तृप्त होता है। परिवार को इकाई मानने से व्यक्ति में छोटी निजता स्वयमेव विगलित हो जाती है और धीरे–धीरे संसार के मनुष्य ही नहीं, पशु–पक्षी, नदी–पर्वत भी कभी सहचर, कभी माता–पिता, कभी सन्तति हो जाते हैं। 'वसुधैव–कुटुम्बकम्' का सम्यक् अभिप्राय यही है। इस संदर्भ में विष्णुपुराणोक्त श्राद्ध का यह मन्त्र द्रष्टव्य हैः

देवासुरास्तथा यक्षा नागागन्धर्वराक्षसाः।
पिशाचा गुह्यकाः सिद्धाः कूष्माण्डा स्तरवः खगाः।।
जलेचरा भूनिलया वाय्वाधाराश्च जन्तवः।
तृप्तिमेते प्रयान्त्वाशु मद्दत्तेनाम्बुनाखिलाः।।
नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः।
तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया।।
येऽबान्धवा बान्धवाश्च येऽन्यजन्मनि बान्धवाः।
ते तृप्तिमखिला यान्तु यश्चास्मत्तोयऽअभिवान्छति।।
ये मे कुले लुप्तपिण्डाः पुत्रदारविवर्जिताः।
तेषां हि दत्तमक्षय्यमिदमस्तु तिलोदकम्।।
आबह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमातामहादयः।।
अतीतकुलकोटीनां सप्तद्वीपनिवासिनाम्।
आब्रह्मभुवनाल्लोकादिदमस्तु तिलोदकम्।।

वैसे तो चौथा ऋण मनुष्य–ऋण या भूत–ऋण उक्त तीन ऋणों में समाहित है, किन्तु सभी भूतों, प्राणियों के हितार्थ अपनी सभी सीमाओं और आकांक्षाओं का परित्याग करने की क्षमता रखने वाला व्यक्ति ही इस ऋण से उऋण हो सकता है। भारतीय समाज में विरक्त या संन्यासी की असाधारण गरिमा का यही कारण है। इस व्यवस्था का भारतीय समाज–व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इसीलिए भारतीय समाज–रचना में वर्णाश्रम–व्यवस्था का स्तर–भेद होते हुए भी इन स्तरों के ऊपर जाकर जीवन को परखने का भाव निरन्तर बना रहा। इन चार ऋणों की पूर्ति भले ही मनुष्य के एक जन्म में न हो, पर इनकी पूर्ति के लिए जो प्रयास जीवन में

प्रारम्भ होता है, उसी से मनुष्य की, उसके समाज की, उसके परिवेश और उसके विश्व की गति की दिशा तय हो जाती है। इन ऋणों की पूर्ति के मार्ग से विचलन का परिणाम ही क्रमशः दैविक–कोप, प्रज्ञापराध, पितृ–दोष और प्राकृतिक आपदाओं के रूप में मिलता है।

भारतीय जीवन–विधान की एक अन्य विशेषता पुरुषार्थ है। धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष रूपी चतुष्पुरुषार्थ एक–दूसरे से जुड़े हैं। निरपेक्ष रूप में न तो धर्म, न ही अर्थ, न ही काम जीवन–मूल्य हो सकते हैं। धर्म के अनुकूल सम्पत्ति का अर्जन करना (अर्थ) और धर्म के अनुकूल उसका उपभोग करना (काम), यह तभी सम्भव है जबकि मनुष्य की एक संतुलित जीवन–दृष्टि हो और वह तीनों को एक साथ संयुक्त रख सके। भारतीय जीवन–धारा में आत्यन्तिकता का सामान्यतः निषेध है, यह संतुलन की साधना है। प्रवृत्ति और निवृत्ति को इसी उद्देश्य के साथ ग्रहण किये जाने की संस्तुति की गयी है। चार ऋणों की व्यवस्था को अधिक सप्रयोजन बनाने के लिए चार पुरुषार्थों की व्यवस्था की गयी है; जिससे सांसारिक अभ्युदय हो, परमार्थ की सिद्धि हो और जो मनुष्य को न्यायपूर्ण जीवन बिताने के लिए प्रेरित करे– ऐसा धर्म ही एक ओर अर्थ और काम का प्रेरक है और दूसरी ओर मोक्ष का साधन है। धर्मयुक्त जीवन बिताते हुए ही मोक्ष का गन्तव्य दिखता रहता है और उसकी कामना ही मनुष्य को आसक्ति के बीच भी निस्संग बनने का अभ्यास कराती रहती है। एक अर्थ में सम्यक् भारतीय जीवन मृदु वैराग्य की साधना है। भारतीय जीवन–विधान में यज्ञ, योग और भक्ति के महत्त्व को भी इस संदर्भ में समझा जा सकता है। जहाँ एक ओर यज्ञ के अर्थ का विस्तार करते–करते, स्थूल–सूक्ष्म के अन्तर्सम्बन्ध की साधना करते–करते मनुष्य सम्पूर्ण जगत को ब्रह्म के रूप में देखने की स्थिति में पहुँच जाता है, वहीं दूसरी धारा है योग की, आभ्यन्तर अनुशासन की, चित्तवृत्तियों का निरोध करते हुए आत्म–साक्षात्कार की। जहाँ बाह्य अनुष्ठानात्मक यज्ञ भीतर की भावनाओं को बहिर्मुख करता है, वहीं आभ्यन्तर साधनात्मक योग मनुष्य को बाह्य जगत से खींचकर अन्तर्मुख करता है और शरीर के भीतर ही अनेक लोकों, शक्तियों, रंगों, आकारों, नादों, स्पर्शों, गन्धों और रसों की अवधारणा करके प्राण के साधन से मनुष्य को एक ऐसी एकाग्रता की स्थिति में पहुँचाता है, जब वह शरीर के रहते हुए भी शरीर, मन, चित्त, अहंकार– इन सबसे अलग हो सकता है। इस योग की

धारा ने ही आत्मतत्त्व की जिज्ञासा को जन्म दिया तथा यज्ञ और योग – दोनों धाराओं के मिलने से ही ब्रह्म और आत्मा में अद्वैत स्थापित हुआ। दूसरे शब्दों में, इन दोनों के योग से ही मोक्ष को परम पुरुषार्थ का पद प्राप्त हुआ जिसे ध्यान में न रखने से धर्म, अर्थ और काम मूल्यहीन होकर रह जाते हैं। मोक्ष दुःख या तृष्णा की निवृत्ति भर ही नहीं है, वह अखण्ड सुख की प्राप्ति है। भक्ति को आचार्यों ने पंचम पुरुषार्थ माना है। यह पुरुषार्थ भगवान में खोने की सार्थकता प्रमाणित करने वाला पुरुषार्थ है जो संतों का मार्ग बना और जिसने भारतीय सामाजिक जीवन में उदारता, करुणा और मानवीयता को आध्यात्मिक रंग दिया। इसके कारण भारतीय समाज में विनयशीलता के साथ–साथ गहरा आत्मविश्वास आया, अपने धर्म में निष्ठा के साथ–साथ सहिष्णुता आयी, स्वीकार करने का भाव आया और उसके साथ ही साथ किसी ज़बरदस्त प्रवाह के विरोध में भी टिके रहने की दृढ़ नकार–शक्ति भी आयी।

इस प्रकार, वैश्विकता का भारतीय परिप्रेक्ष्य अत्यन्त व्यापक है। इससे जुड़े सभी प्रत्यय सृष्टि को ब्रह्म का विवर्त मानते हुए सम्पूर्ण सृष्टि के साथ मनुष्य के स्वाभाविक तादात्म्य स्थापित करने से सम्बन्धित हैं। इन प्रत्ययों का स्वरूप तो देश–काल–परिस्थितिजन्य होने के कारण विशिष्ट है, किन्तु इनकी उपादेयता निःसन्देह ही वैश्विक है। इसी क्रम में अब भारतीय वैज्ञानिकता के स्वरूप पर भी विचार कर लेना समीचीन होगा।

भारत में धर्म, दर्शन, विज्ञान न केवल समानार्थक वरन् परस्पर आप्लावित धारणाएँ हैं। ज्ञान–मूलक सनातन संस्कृति में विद्याएँ तत्त्वज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या का अंग मानी जाती हैं। ऐसी मान्यता प्राचीन समय एवं मध्यकाल तक अनेक देशों में मान्य थी। आजकल भारत जैसे कुछ देशों में इस परम्परा के चिह्न विद्यमान हैं। विद्या का स्वरूप देशकाल आदि के अनुसार एवं जाति–व्यक्ति आदि की मानसिक क्षमता के अनुसार भिन्न हो सकता है, किन्तु ब्रह्मविद्या के स्वरूप में इन भिन्नताओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ब्रह्मविद्या के विवरण के प्रकार में भिन्नता की सम्भावना है, किन्तु उसका ब्रह्मरूप विषय निर्विकार है, उसमें भिन्नता का प्रसंग नहीं आ सकता। सम्पूर्ण विद्याओं को एक ही तत्त्वविद्या की अंगभूता मानने का अभिप्राय यह है कि सभी विद्याएँ प्रकृति की विशेषताओं के अनुसार एक ही विद्या के विशेष प्रयोजन हैं। इसलिए परम्परा में भौतिक विज्ञान प्रकृति और

काल का विज्ञान है। इस भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत प्रकृति के अंग–विशेषों का अन्वेषण करने के उद्देश्य से कई खण्ड–विज्ञान हैं, जो भौतिक विज्ञान के अंगभूत विज्ञान हैं। इस प्रकार भौतिक विद्या को परम्परा में भूतों से परे वेदान्त का अंग माना गया है। वेदान्त का विषय परम–तत्त्व है। प्रकृति में परम–तत्त्व का प्रतिबिम्ब पड़ता है जिसके आभास से प्रकृति का वास्तविक रूप समझ में आ सकता है। यह आभास ही परम्परागत भौतिक विद्या का विषय है। यहाँ तक कि पश्चिमी मध्यकालीन सृष्टि–नियम–मीमांसा (Cosmology) की भी यही दृष्टि थी। यही बात रसायन विज्ञान पर भी लागू होती है। वास्तविक रस–विज्ञान यथार्थ में विश्व ब्रह्माण्ड की रचना का ही विज्ञान है और पिण्ड–ब्रह्माण्ड के समानधर्मी होने के नाते यह मनुष्य पर भी प्रयुक्त है। इसके अतिरिक्त इस विज्ञान के निर्माण में यह उद्देश्य सामने दिखायी देता है कि भौतिक क्षेत्र में होने वाला इसका उपयोग पीछे आध्यात्मिक क्षेत्र में भी किया जा सके। इसी से इसका लक्ष्यार्थ सूचक विशेष महत्त्व है और इस विज्ञान का इतना गौरव है। परम्परागत विज्ञानों में एक विशिष्ट और पूर्ण विज्ञान के तौर पर इसकी गणना होती है। यही बात प्राचीन ज्योतिष, गणित और मानस–विज्ञान के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

सनातनी दृष्टि से किसी विद्या का मूल्य स्वरूपतः उतना नहीं है, जितना ब्रह्मविद्या का अंश होने के नाते है। इसीलिए प्राचीन प्रधान विज्ञानों का नाम 'उपवेद' रखा गया, जिससे स्पष्ट होता है कि वेदमूलक होने से ही उनका मूल्य है, न कि स्वतंत्र होने से। आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद आदि को इसी कोटि में रखा जा सकता है। यही बात कलाओं के ऊपर भी लागू होती है, क्योंकि कला प्रतीकों का आधार है एवं ध्यान आदि का आश्रय प्रतीक होता है। कलाओं के नियमादि भी अन्य विद्याओं के नियमों की भाँति प्रकृति के आधारभूत धर्म के आभास हैं। इस प्रकार सनातनी विद्याओं–विज्ञानों के साथ सनातनी कलाएँ भी हैं। मध्यकालीन शिल्प–कला सनातनी कलाओं का एक अनुपम नमूना है, क्योंकि इस कला में शिल्प–सम्बन्धी प्रत्येक विद्या या विज्ञान का स्पष्ट संकेत है। दुर्भाग्य से आधुनिक पाश्चात्यों को इनका कोई ज्ञान नहीं है।

विज्ञान अपने क्षेत्र में अवश्य उपयोगी है, जब तक वह अपने स्थान में स्थित रहता है। यह सुगमता से समझ में आ सकता है कि जो कोई

व्यक्ति ज्ञान की उच्च भूमिका पर पहुँच चुका है, उसके लिए निम्न श्रेणी के साधारण विज्ञानों का विशेष मूल्य नहीं रहता। यह भी कहा जा सकता है कि वास्तविक विद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या के इच्छुक व्यक्ति के लिए विज्ञानों का मूल्य वहीं तक है, जहाँ तक उनका ब्रह्मविद्या से सम्बन्ध है, अर्थात् जब तक वे अपने–अपने क्षेत्र में तत्त्व–दृष्टि रखते हैं एवं जिज्ञासुओं के लिए ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का मार्ग बन सकते हैं। इस प्रकार, परम्परागत विज्ञानों के दो परस्पर सहकारी कार्य हैं, प्रथम तो तत्त्व–विद्या के अंश एवं विशेष अंग होने से संसार के समस्त क्षेत्रों की आधारभूत एकता इनके द्वारा प्रकट होती है। इनका दूसरा कार्य यह है कि विशेष व्यक्तियों के लिए उनकी मानसिक शक्ति एवं अधिकार, समय, स्थान आदि के अनुसार ये विज्ञान ब्रह्मविद्या की ओर ले जाने वाले मार्ग बन सकते हैं। वे ऐसी सीढ़ियों का काम देते हैं, जिनके द्वारा बुद्धि क्रमशः जड़ संसार को छोड़कर ब्रह्मविद्या की ओर अग्रसर हो सकती है। सनातनी विद्या, धार्मिक विद्या अथवा परम्परागत विज्ञानों के मुख्य प्रमाण आत्मप्रत्यक्ष हैं, जो अन्य ज्ञान–साधनों की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट एवं शंकारहित हैं तथा मन, बुद्धि आदि साधनों से सीमित नहीं हैं। सनातन सिद्धान्तानुकूल वास्तविक विज्ञान उन ऋषियों द्वारा प्रादुर्भूत हुए हैं, जिनको तत्त्व का पूर्ण ज्ञान हो चुका था।

जब विद्या के किसी रूप की स्थापना ऊपर से नीचे के क्रम में हुई हो, तब उसकी शिक्षा नीचे से ऊपर के क्रम से हो सकती है। इस प्रकार अनेक विद्याएँ एक तत्त्व के दर्शन में दृष्टान्त–रूप बन जाती हैं, जिनकी सहायता से विविध प्रकार की बुद्धियों को तत्त्वदर्शन करने में सुविधा हो। बहुविध प्रकृति के वश में रहते हुए जीव की बुद्धि बहुत्व में लीन रहती है, इसलिए उसको एकत्व की ओर ले जाने के लिए बहुविध रूपों की सहायता लेनी पड़ती है। सर्वोच्च ज्ञान के मार्ग की प्रारम्भिक भूमिकाएँ अनेक प्रकार की हैं। परन्तु जीव लक्ष्य के जितना समीप पहुँचता है, विभिन्न मार्ग उतने ही अधिक एक–दूसरे में लीन होते जाते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जिनमें भक्ति की सघनता होने के कारण ऐसे साधनों की आवश्यकता नहीं होती, उनको सीधे ही तत्त्वदर्शन का सौभाग्य मिल जाता है। परन्तु यह असाधारण बात है, साधारण जीवों को क्रमशः उन्नत अवस्था की ओर चलना पड़ता है। यही कारण है कि आचार्यों ने भक्ति को परम कोटि का 'विज्ञान' माना है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वस्तुओं की तात्त्विक एकता के कारण जड़

वस्तु भी तत्त्व की प्रतिमा एवं तत्त्वदर्शन का आधार बन सकती है। यही बात प्रत्येक विद्या या विज्ञान के बारे में सत्य है। ज्योतिष विद्या और गणित विद्या का इसी प्रकार का उपयोग अनेक सम्प्रदायों ने परम्परा में किया है। इसी से प्राचीन ज्योतिष और गणित की गरिमा व महत्ता को समझा जा सकता है। कोई भी विद्या, जो अपने सनातनी स्रोत से कटी नहीं है, आत्मविद्या की प्रतिमा बन सकती है। यही सनातनी विद्याओं या विज्ञानों का मुख्य अर्थ एवं प्रयोजन है।

इस दृष्टि से जब हम भारतीय ज्ञान–विज्ञान की उपलब्धियों पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि भारतीय विश्व–दृष्टि मनुष्य और प्रकृति, दोनों को अविलग देखती है – बाहर जो सूर्य का प्रकाश है, वही भीतर बुद्धि का प्रकाश है; बाहर जो अंधकार है, वही भीतर का भय है; बाहर जो तृण, वीरुध और वृक्ष में ऊपर उठने की प्रक्रिया है, वही भीतर की उमंग है। भारतीय ज्ञान–विज्ञान का मूल केन्द्र वैदिक यज्ञ–संस्था मनुष्य और देवता, आभ्यंतर और बाह्य, व्यक्त और अव्यक्त, चर और अचर – इन युग्मों को, सम्पृक्त मिथुनों को एक–दूसरे के लिए अपेक्षी बनाने वाली विधि है। इसलिए जहाँ आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन मनुष्य को केन्द्र में रखता है, मनुष्य की अप्रतिहत बुद्धि को केन्द्र में रखता है, प्रकृति पर मनुष्य की विजय को मनुष्य का पुरुषार्थ मानता है तथा पूरी सृष्टि को मनुष्य का उपभोग्य मानता है, वहीं भारतीय चिन्तन कोई एक केन्द्र देखता ही नहीं, उसका विश्व बहुकेन्द्रिक है; मनुष्य के लिए देवता केन्द्र है, देवता के लिए मनुष्य। यहाँ प्रकृति पर विजय नहीं, प्रकृति से सामंजस्य और समग्र अस्तित्व से परम सामंजस्य स्थापित करना ही मानव–जीवन का परम लक्ष्य है, समस्त भूतों के ऋण की परिशुद्धि ही परम पुरुषार्थ है; यहाँ न कोई निरपेक्ष रूप में भोग्य है, न निरपेक्ष रूप में भोक्ता। या तो मनुष्य सहभोक्ता है या सभी सहभोक्ता हों, इसके लिए अपने को अर्पित करने वाला भोज्य है। वह अन्न भी है, अन्नाद (अन्न खाने वाला) भी है।

भारतीय 'वैज्ञानिक' दृष्टि में सृष्टि जीवात्मा का सजीव, प्राणप्रवण लौकिक आश्रय है। इसे जड़ भौतिक पदार्थों का आपातिक संकलन या बाह्य शक्तियों का प्रासंगिक संयोग नहीं समझना चाहिए। सम्पूर्ण दृश्य जगत एक अदृष्ट पारमार्थिक सत्ता का प्रतिबिम्ब है। संस्कृत वाङ्मय में आकाश, पृथ्वी, वायु, जल और अग्नि जैसे शब्दों में सामान्य वाच्यार्थ के

अतिरिक्त एक अत्यन्त सूक्ष्म, रहस्यात्मक, तत्त्वबोधक लाक्षणिकता सन्निहित है। आकाश शब्द पूर्णत्व का, वायु प्राण का, जल जीवन का, पृथ्वी क्षमा का और अग्नि तेजस् का रूप है। इसके अतिरिक्त इन पंचमहाभूतों में घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध भी विद्यमान है, क्योंकि वे अपना पृथक् या स्वतंत्र अस्तित्व न रखते हुए एक ही नित्य सत्य की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। इसी प्रकार प्रकृति के अन्य अवयव जैसे नदी, पर्वत, समुद्र आदि निर्जीव पदार्थ नहीं, वरन् देवी–देवताओं के आश्रय माने गए हैं। पशु–पक्षी विभिन्न देवताओं के वाहन के रूप में प्रसिद्ध हैं। उदाहरण के लिए कवि–कुलगुरु कालिदास ने नगाधिराज हिमालय को देवतात्मा और पृथ्वी का मानदण्ड बताया है– स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः। स्वर्गलोक से पृथ्वी पर अवतरित माता भागीरथी समस्त जीवों का उद्धार करने वाली देवी मानी गयी हैं। ये सभी स्थावर–जंगम चक्षु–विषय एक सूत्र में बँधे हुए हैं और एक–दूसरे के पूरक हैं। जैसे प्रकृति के विभिन्न पदार्थ और तत्त्व एक सूक्ष्म आन्तरिक श्रृंखला में अविकल रूप से निबद्ध हैं, उसी प्रकार प्रकृति और मनुष्य का भी अत्यन्त घनिष्ठ अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, क्योंकि दोनों एक ही अनादि, अनन्त, अव्यक्त परम–तत्त्व के प्रतिभास हैं। मनुष्य जहाँ एक ओर अपने दैहिक अस्तित्व और जीवन–यापन के लिए प्रकृति पर आश्रित है, वहीं उसके भौतिक पर्यावरण को भी उसके स्वभाव, उसकी आकांक्षाओं तथा अभिलाषाओं, उसके क्रियाकलाप, उसकी सामाजिक व्यवस्था, उसके राजनीतिक संगठन इत्यादि से पृथक नहीं किया जा सकता। जब मानव–चेतना दृश्य–जगत की असीम विचित्रता तथा विपुलता का अतिक्रमण कर प्रातिभ ज्ञान या प्रज्ञा के द्वारा सभी वस्तुओं के मूल प्रतिमान का ध्यान करती है तो समस्त सृष्टि एक सर्वव्यापी, अखण्ड और अनन्त सत्य का प्रतिभास ज्ञात होती हैः "एकै रूप अचार प्रतिबिम्बित लखियत जहाँ।" सृष्टि की अविभाज्य समग्रता और उसके अन्तर्सम्बन्धों के इसी अर्थ–गांभीर्य को महाकवि भवभूति ने अत्यन्त काव्यात्मक ढंग से *उत्तररामचरितम्* के एक श्लोक (6–12) में व्यक्त किया हैः

व्यतिषजाति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुर्न खलु बहिरूपाधीन्प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्स्योदये पुण्डरीकं द्रवति च हिमरष्मावुद्गते चन्द्रकान्तः।।

इसका सारांश यह है कि प्रकृति के वास्तविक स्वरूप और उसके गूढ़ रहस्य को बाह्य कारणों से नहीं समझा जा सकता। हमें उसकी

आन्तरिक एकता तथा अखण्डता को आत्मसात करना होगा। सभी भौतिक कारणों के गर्भ में सदैव एक सूक्ष्म दैवी कारण विद्यमान है। इस अव्यय भाव–एक न खुलने वाले भाव – की तलाश करना ही भारतीय ज्ञान–विज्ञान का परम लक्ष्य है। इसीलिए भारतीय परम्परा में साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान और धर्म एक–दूसरे से आप्लावित या 'उलझे–उलझे' दिखायी देते हैं। वस्तुतः जहाँ ये आपस में परस्पराप्लावित या उलझे–उलझे नहीं हैं, वहाँ वे मनुष्य की साधना/गरिमा को व्यक्त करने में समर्थ ही नहीं हैं। भारतीय वैज्ञानिक उपलब्धि पर विचार करते समय भी यह बात स्पष्ट दिखती है कि इस विज्ञान का उद्देश्य प्रकृति को जीतना नहीं है, वरन् मनुष्य और प्रकृति को एक परस्पराकांक्षी युग्म के रूप में स्थापित करना है और सृष्टि चक्र को पथच्युत होने से रोकना है। प्राचीन भारतीय जीवन में यह नहीं था कि आखेट वर्जित हो, पशुवध न होता हो, किन्तु यह अवश्य था कि प्रजनन की ऋतुओं में आखेट वर्जित किया जाता था, जिससे सृष्टि का संतुलन बिगड़ने न पाए। पेड़ से लकड़ी तोड़ी जाती थी, लेकिन नई शाखा तोड़ना पाप समझा जाता था। कृषि–विकास के साथ–साथ वृक्षारोपण और पशु–संवर्द्धन को भी इसी सम्पूरक दृष्टि से महत्त्व दिया गया। बहुत सूक्ष्म पर्यवेक्षण के बाद प्राचीन भारतीयों ने आयुर्वेद और ज्योतिष का ज्ञान विकसित किया और इन दोनों प्रायोगिक विज्ञानों के क्षेत्र में उन्होंने धर्म–दृष्टि को खोने नहीं दिया। यही नहीं, उन्होंने आयुर्वेद को ज्योतिष से जोड़ा और बाह्य दृश्य या प्रत्यक्ष विद्याओं को अप्रत्यक्ष विद्या – (अध्यात्म–विद्या) से जोड़ा। नक्षत्र–विशेष या ऋतु–विशेष में देवता–विशेष की अनुकम्पास्वरूप औषधियों को तोड़ने–उखाड़ने को इसके दृष्टांत के रूप में देखा जा सकता है। पश्चिम के प्रसिद्ध भारतीय तत्त्ववेत्ता हाइन रिखत्सिमर ने 'हिन्दू चिकित्सा' नामक ग्रन्थ में ठीक ही लिखा है कि हिन्दू चिकित्सा–पद्धति मन और शरीर के भेद को स्वीकार नहीं करती और केवल शरीर के स्वास्थ्य–लाभ तक सीमित भी नहीं रहती है। वह वस्तुतः शरीर के माध्यम से जीवन के आनन्द की पूर्णता प्राप्त करने की विधि प्रस्तुत करती है। इसलिए आयुर्वेद में शरीर, रति, हेतु, व्याधि, कर्म, कार्य, काल, कर्ता (वैद्य), करण और विधिविनिश्चय– इन दसों का महत्त्व है और यह चिकित्सा–पद्धति इसीलिए आयुर्वेद कही जाती है कि वह जीवन–तत्त्व को परिपूर्णता दिलाने के लिए है, वह मनुष्य के बाहरी शरीर की ही चिकित्सा नहीं, मनुष्य के अन्तर्वर्ती प्राण

की भी चिकित्सा है। यही कारण है कि आयुर्वेद की भित्ति सांख्य की त्रिगुणात्मक सृष्टि–योजना है। यह योजना ऊपर से देखने पर प्रथमतः अस्पष्ट और बाह्य वस्तु–निरीक्षण से अप्रमाणित जान पड़ती है, परन्तु इसका आधार शरीर की स्थूल रचना नहीं, शरीर की सूक्ष्म रचना है। इसलिए आयुर्वेद को अच्छी तरह समझने के लिए योग–साधना के अनुसार शरीर में शक्ति–प्रवाह के रूप में स्थित चक्र–शृंखला को समझना आवश्यक हो जाता है। इस शृंखला की कल्पना भी वस्तुतः विराट् विश्व के व्यष्टि शरीर में सूक्ष्म रूप से अवस्थित होने पर आधारित है।

ज्योतिष–विद्या के प्रसंग में भी यही बात लागू होती है कि वह केवल काल–गणना या दिग्गणना नहीं है, वह सृष्टि–विद्या भी है। वह खण्डकाल के परिणामों के माध्यम से अखण्डकाल की साधना करने वाली विद्या भी है। यह आकस्मिक नहीं है कि हिन्दू ज्योतिष में निरयण–गणना को सायण–गणना की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है। निरयण–गणना सृष्टि के आरम्भ को बिन्दु मानकर चलती है और इसीलिए यह स्थापना करती है कि मनुष्य का जन्म निरवधि–काल और सावधि–काल के मिलन–बिन्दु पर होता है। एक ओर वह जीवन की अनन्त यात्रा के पड़ावों की शृंखला के रूप में आता है, और दूसरी ओर उसकी एक खण्डकालिक इयत्ता भी रहती है, जो उसी के प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण कर्मों के द्वारा नियन्त्रित रहती है। हिन्दू ज्योतिर्विद्या का प्रारम्भ सौर–मण्डल की कल्पना से नहीं, नक्षत्र–मण्डल की कल्पना से हुआ। इसी से इस विद्या में प्रारम्भ से ही पृथ्वी–केन्द्रिक (Earthcentric) विचारधारा परिपोषित न होकर ब्रह्माण्ड की एकता देखने वाली (Cosmocentric) विचारधारा परिपोषित हुयी। प्राचीन हिन्दू ज्योतिष की यह व्यापक दृष्टि आज के पश्चिमी गणितज्ञों के लिए भी स्पृहा की वस्तु है, क्योंकि पश्चिम का गणितज्ञ या खगोलवेत्ता आज भी मनुष्य–केन्द्रिक (Homocentric) विश्व–दृष्टि से इतना बँधा हुआ है कि वह ब्रह्माण्ड की लयबद्धता के बारे में शंकालु बना हुआ है। हाइज़ेनबर्ग और आइंस्टाइन के चिन्तन ने कुछ व्यापक दृष्टि देकर अवश्य ही पश्चिम को आधुनिक विज्ञान के अंधविश्वासों से मुक्त करने का प्रयत्न किया है।

योग, आयुर्वेद, ज्योतिष, खगोल, भूगोल के साथ ही विज्ञान के जिन क्षेत्रों में प्राचीन हिन्दू उपलब्धियाँ दिखती हैं, उनमें कृषि, पशुपालन, भवन–निर्माण, नगर–नियोजन, धातु–विद्या, रसायन, नौकायन और वस्तु–

उत्पादन प्रमुख हैं। चावल, गन्ना, कपास की फसलें तथा आम, नीबू, सुपारी, नारियल जैसे फल वाले वृक्षों के विकास में भारत का महत्त्वपूर्ण योगदान है। भारत में कृषि, उद्यान और गो–पालन–तीनों अंतःसम्बद्ध हैं। हिन्दू शासन–तन्त्र ने इनको विकसित होने का स्वतंत्र अवसर भी दिया। भारत में ग्राम–स्तर पर स्वराज का अक्षुण्ण बने रहना इसका एक प्रमुख कारण है। भवन–निर्माण, नगर–नियोजन और धातु–विद्या का विकास अवश्य अवरूद्ध हुआ, उसके भी दो मुख्य कारण थे। एक तो इन विद्याओं के पीछे जो देश–काल की आध्यात्मिक अवधारणा भारतीय मानस में थी, वह लुप्त हो गयी और उसके साथ–साथ रचना की प्रेरक शक्ति–धर्म का व्यापक बोध–लुप्त हो गयी। दूसरे यह कि भौतिक समृद्धि के अवसरों का वितरण विषम हो गया, शासन का केन्द्रीयकरण बढ़ गया और सत्ता की लोलुपता के कारण प्राचीन भारतीय जीवन–दृष्टि में समग्र रूप से जो सौन्दर्य–बोध दिखता रहा, वह क्षीण होने लगा। अब इसके कारण भौतिक सुख–सुविधाओं के लिए सामाजिक दायित्व में कास आया और इसी से धीरे–धीरे शिल्पी, धातुकार, कारीगर बेरोजगार होते गये। आज इन प्रायोगिक विद्याओं पर एक तो साहित्य का अभाव है, साहित्य अल्पाधिक है भी तो उसे समझना कठिन है, क्योंकि प्रयोग की परम्परा बीच में बहुत दिनों तक विच्छिन्न हो गयी थी। स्थापत्य, नगर–निर्माण तथा धातुकर्म के क्षेत्र में प्रयोग की परम्परा टूटने और आज मनुष्य के यन्त्र–कौशल के बहुत 'विकसित' हो जाने के उपरान्त भी यह तो समझने की कोशिश करनी ही चाहिए कि जिस धर्म ने भौतिक–आध्यात्मिक विकास को समानान्तर चलाया, वह धर्म आज के विश्व में यकायक क्यों इतना अप्रासंगिक हो गया है और हम क्यों इस धर्म के बारे में क्षमायाची भाव रखते हैं? मनुष्य की तृष्णा को केन्द्र में रखकर विकास के नाम पर मनुष्य के अस्तित्व के प्रश्न को निरन्तर उलझाते जा रहे विश्व को भारतीय विद्याओं की परम्परा सर्वभूत–हित की दृष्टि तो दे ही सकती है। इसी परम्परा में पुरुष और प्रकृति में अविरोध के आधार पर सृष्टि में सन्तुलन बनाये रखने की क्षमता है। भारतीय जीवन–विधान में साधारण जीवन की सभी क्रियाएँ इसी अर्थ में विज्ञान पर आधारित हैं, फलतः व्यष्टि और समष्टि के लिए उनका विनियोग सदैव कल्याणकारी रहता है।

वैश्विकता और वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में परम्परागत दृष्टि ऐसी ही रही। 'पुनर्जागरण–काल' के पूर्व भारत और यूरोप में भी कमोबेश यही दृष्टि

मान्य थी। यूरोप में ईसाई धर्म–परम्परा के विरूद्ध जिस प्रतिक्रिया ने जन्म लिया उसे ही 'पुनर्जागरण' कहा जाता है। इसी पुनर्जागरण ने जीवन–दृष्टि के सम्बन्ध में गुणात्मक रूप से एक अति भिन्न मान्यता को जन्म दिया, जिसे 'आधुनिकता' के नाम से जाना जाता है। 'आधुनिकता' से अभिप्राय (प्रभात–बेला) की तरह नित–नवीन होना नहीं है, जैसा हम अपनी भोली बुद्धि से मान लेते हैं। विद्या–विमर्श के क्षेत्र में आधुनिकता एक गुणवाचक विचार–वीथिका है, जिसके प्रमुख लक्षण हैं– स्वयंभू मनुष्य (Masterless/ Unmediated Man) और स्वत्वसम्पन्न मनुष्य (Possessive Individual)–केन्द्रित 'मानववाद' (Humanism), व्यक्तिवाद (Individualism), इहलोकवाद (Secularism) तथा वैज्ञानिक बुद्धिवाद (Scientific Rationalism)। अपने इन्द्रियजनित अनुभव व तार्किक बुद्धिबल से सृष्टि के सभी रहस्यों का भेदन करने में मनुष्य को सक्षम मानने वाली आधुनिकता में मनुष्य–मनुष्य और मनुष्य–प्रकृति के सम्बन्ध में परम्परागत साकल्यवादी (Holistic) धारणा का पूर्णतः निषेध है। जीवन और जगत की खण्ड–खण्ड (Atomistic) दृष्टि पर टिकी आधुनिकता व्यक्ति, समाज, प्रकृति और ब्रह्माण्ड को एक कृत्रिम संयोजन (Aggregate) मानकर चलती है। स्वाभाविक ही जीवन और जगत के सम्बन्ध में साकल्यवादी और ईश्वर–केन्द्रित (Theocentric) दृष्टि का लोप होने के परिणामस्वरूप आधुनिक–काल में सृष्टि के रहस्यों और मानवीय समाज के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की खण्डित, अपूर्ण और विरोधी विचारधाराओं का जन्म हुआ। इन विचारधाराओं को लेकर मानवीय जीवन में व्यापक स्तर पर संघर्षों का भी जन्म हुआ तथा वैयक्तिक, सामाजिक और वैश्विक जीवन निरन्तर उलझता चला गया। इसलिए यह भी उतना ही स्वाभाविक है कि आधुनिकता के प्रभाव में वैश्विकता और वैज्ञानिकता की परम्परागत मान्यताओं में भी आमूल–चूल परिवर्तन हुआ। धर्म और धर्मजनित नैतिकता का निषेध करने वाली आधुनिकता धर्म को विभेदकारी, पतनकारी, प्रगति–विरोधी और अंधविश्वास मानती है। स्वाभाविक ही ऐसे में एक इहलोकवादी तथा मनुष्य–केन्द्रित (Homocentric) विचार का जन्म होता है जो आज के मानववाद (Humanism) और मानवतावाद (Humanitarianism) का आधार है। किसी तात्त्विक एकता के कारण नहीं, वरन राजनीतिक तंत्र और अर्थ–तंत्र के दबाव में मानवीय एकता की स्थापना का प्रयत्न होने लगा। किन्हीं

आत्मोन्नयनकारी और परमार्थकारी सिद्धान्तों के आधार पर नहीं, विश्व–सरकार के माध्यम से विश्व–शान्ति का स्वप्न देखा जाने लगा। वैश्विक संरचनाएँ इतनी जटिल हो गयीं कि पहले तो विभिन्न प्रकार के सैनिक गठबन्धनों के द्वारा शक्ति–केन्द्रित विश्व को संतुलित करने का प्रयास आरम्भ हुआ तथा ऐसा करने से बढ़ती गयी शस्त्रों की दौड़ से घबराकर बीच–बीच में निःशस्त्रीकरण की बातें भी की जाने लगीं। निष्कर्ष यह है कि वैश्विकता की अवधारणा अविश्वास, शोषण, प्रतिस्पर्द्धा, भय और आतंक के बीच एक भावनात्मक छलावा मात्र बनकर रह गयी है। राष्ट्र–राज्यों की अन्तर्सम्बन्धी राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा में बदल गयी वैश्विकता केवल बेचने–खरीदने, लुभाने–ललचाने, डरने–डराने और बनाने–बिगाड़ने वाली अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों का ताना–बाना बनकर रह गयी है।

वैश्विकता की ही भाँति, आधुनिकता ने वैज्ञानिकता के परम्परागत स्वरूप को भी विरूपित किया है। आधुनिकता के परिणामस्वरूप एक ईश्वर–केन्द्रित साकल्यवादी विश्व–दृष्टि के विरूद्ध जिस मनुष्य–केन्द्रित, अणुवादी (Atomistic) वैज्ञानिक बुद्धिवाद का आविर्भाव हुआ उसने ईश्वर, मनुष्य और प्रकृति के सोपानक्रम (Hierarchy) को अस्त–व्यस्त कर दिया, प्रकृति व ईश्वर में विरोध उत्पन्न कर दिया और एक मूलभूत अविभाज्यता को खण्डित करते हुए एक खण्डवादी विभाज्यता को जन्म दिया। इसके परिणामस्वरूप प्रकृति की पवित्रता की अवधारणा के त्याग के साथ–साथ मनुष्य ने अपने भौतिक–लौकिक सुख–वृद्धि के प्रयोजन को केन्द्र में रखते हुए अपनी सीमा का भयानक अतिक्रमण किया, प्रकृति–प्रदत्त तत्त्वों का भीषण शोषण किया और अपनी सुख–सुविधा बढ़ाने वाले नित–नवीन अविष्कारों से एक–दूसरे को चमत्कृत किया। आधुनिक मनुष्य की ये गतिविधियाँ प्रकृति व समाज, दोनों में विपत्तिकारी असन्तुलन का कारण बनीं।

आधुनिक विज्ञानवादी पाश्चात्य सभ्यता आज अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच रही है और निरन्तर 'विकासोन्मुख' प्रतीत हो रही है। किन्तु इस प्रत्यक्ष विरोधाभास को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भौतिक जगत में अपनी अभूतपूर्व 'उपलब्धियों' और प्रकृति पर अपनी लगभग पूर्ण विजय के बावजूद (वस्तुतः उसके परिणामस्वरूप) मानव विनाश के कगार पर खड़ा है; और उन्हीं शक्तियों और सफलताओं के समक्ष अपने को असहाय और

पराजित पा रहा है, जिन्हें उसने अपनी बुद्धि के वैभव से अर्जित किया है। भौतिक विकास की पराकाष्ठा और साथ ही विश्व के सन्निकट विनाश की तीव्र आशंका– दोनों इस युग के यथार्थ सत्य हैं; दोनों ही आधुनिक बुद्धिवाद, व्यक्तिवाद और मनुष्य के अहंकार तथा उसकी महत्त्वाकांक्षा के अनिवार्य परिणाम हैं। आज जिसे हम पर्यावरण का संकट कह रहे हैं, वह कोई तकनीकी संकट नहीं है; यह संकट मूलतः आध्यात्मिक चेतना के ह्रास, आधुनिक विज्ञानवाद के अभ्युत्थान और प्रसार तथा मनुष्य और प्रकृति के विच्छेद, विनिपात और अपवित्रीकरण के वृत्तान्त का निष्कर्ष है। प्रख्यात तत्त्वशास्त्री, दार्शनिक, विचारक और पर्यावरणविद् प्रोफेसर सैयद हुसैन नस्र ठीक ही कहते हैं कि बाहर दिखायी देने वाला पर्यावरण का संकट वस्तुतः मनुष्य की आत्मा के संकटग्रस्त होने की प्रतिच्छवि है। आधुनिकता के दुश्चक्र में मनुष्य ऐसा फँसा है कि वह एक समस्या का समाधान करने निकलता है, तो दस नई समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं; विचारणीय बात यह है कि ये नई समस्याएँ, उसके द्वारा किये गये निवारणीय उपायों की असफलता का नहीं, उनकी सफलता का परिणाम होती हैं। पारमार्थिक तत्त्वज्ञान से विच्छिन्न बुद्धि का यही हस्र होता है। ऐसी बुद्धि अंहकार–प्रधान, उच्छृंखल और आक्रामक हो जाती है तथा शक्ति और हिंसा का प्रतिरूप बन जाती है। वह प्राकृतिक पदार्थों *(Natura Naturata)* को उनके मूल जीवन–स्रोत *(Natura Naturans)* से पृथक् करके उन्हें अविहित विनियोग, उपभोग और शोषण का विषय बना लेती है। प्रतिक्रियास्वरूप प्रकृति भी अपनी निगूढ़ शक्तियों के माध्यम से अपना विकराल, रौद्र रूप प्रकट करने के लिए विवश हो जाती है और पर्यावरण जैसा अस्तित्व का संकट उत्पन्न हो जाता है। स्पष्ट है कि मनुष्य और प्रकृति का संघर्ष, 'विकास' के रूप में वैज्ञानिक आविष्कारों एवं प्रौद्योगिकी द्वारा प्रकृति पर मानव की विजय का प्रयास और उससे उत्पन्न पर्यावरण का संकट – ये सब मूल रूप से मनुष्य के अज्ञान और मिथ्याचार (Misconduct) के ही परिणाम हैं। बिडम्बना यह है कि महाविनाश के आसन्न संकट की घनीभूत, विकराल काली छाया में व्यतीत होता हमारा जीवन अन्यान्य आश्चर्यजनक वैज्ञानिक आविष्कारों से अभी भी असामान्य रूप से प्रभावित हो रहा है। परमाणु–जैविकी (Molecular Biology) एवं आनुवंशिक अभियान्त्रिकी (Genetic Engineering) के क्षेत्र में ऐसी क्रान्ति दिखायी दे रही है जैसे कि

हम एक नये मानव एवं एक नये विश्व (Second Reality) के निर्माण में सफल हो गये हैं। किन्तु इस तथाकथित सफलता ने अनेक अपरिहार्य एवं गम्भीर नैतिक तथा सामाजिक समस्याओं को तो जन्म दिया ही है, मनुष्य, पशु और प्रकृति की उर्वरा शक्ति को तो क्षीण किया ही है, वैश्विक स्तर पर भी आणविक युद्ध जैसी विभीषिकाओं के भय और तज्जनित संत्रास को जन्म दिया है। स्वतंत्रता, समानता तथा विश्व–बन्धुत्व के 'आदर्श' पराधीनता, असमानता, अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष, सामाजिक विषमता, आर्थिक शोषण और राजनीतिक दमन का रूप धारण कर चुके हैं। वस्तुतः शोषण, दमन और जीवन का यंत्रीकरण भौतिकवादी सभ्यता के अपरिहार्य परिणाम हैं। भौतिकवादी सभ्यता के आधारभूत सिद्धान्त–बुद्धिवाद, यान्त्रिक भौतिकवाद, परिणामवाद और व्यक्तिवाद – ही इसके लिए जिम्मेदार हैं। बुद्धिवाद मानव और मानवोत्तर, दैहिक और दैविक को संयुक्त करने वाली शृंखला अर्थात् प्रज्ञा की ही अवज्ञा करता है और मनुष्य को वैयक्तिक एवं ऐहिक जगत तक सीमित कर देता है। यान्त्रिक भौतिकवाद पदार्थ एवं उसके विस्तार तथा उसकी संरचना को ही अन्तिम सत्य समझता है। गणित की अध्ययन–पद्धति का व्यापक प्रयोग परिमाणात्मक उपागम को ज्ञान का एकमात्र साधन बना देता है; और व्यक्तिवाद सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को उसी प्रकार खण्डित कर देता है, जैसे अणुवाद (atomism) वस्तुओं को उनके अणुओं में विभक्त कर देता है। प्रसंविदावादी (contractualist) विचारकों (हॉब्स, लॉक इत्यादि) ने राज्य की उत्पत्ति व्यक्तियों के आपसी समझौते से बतायी, और संशयमूलक बुद्धिवाद के प्रवर्तक रेने देकार्त ने द्रव्य (matter) और गति (motion) के द्वारा पुनः सम्पूर्ण विश्व की रचना करने की मानव–सामर्थ्य में विश्वास व्यक्त किया। इस प्रकार, मानव–समाज और प्रकृति, दोनों अपना सहज सत्तामूलक (ontological) स्वरूप खोकर कृत्रिम पदार्थ बन गए, दोनों की दैवी गरिमा और पवित्रता नष्ट हो गयी; और मनुष्य को प्रकृति की क्रिया में मनमाना हस्तक्षेप करने का सैद्धान्तिक आधार प्राप्त हो गया। कहने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण आधुनिक चिन्तन विघटन की प्रक्रिया है और इसका परिणाम है–विध्वंस। यह विध्वंस चाहे परमाणु अस्त्रों के प्रयोग से क्षण–मात्र में सम्भव हो, अथवा पारिस्थितिकीय प्रदूषण के द्वारा अपेक्षाकृत कुछ विलम्ब से हो, चाहे हरे–भरे वनों तथा पर्वतों को काट कर भूस्खलन और भूचाल के रूप में

लाया जाए, या नदियों पर बड़े–बड़े बाँधों के निर्माण के द्वारा स्थानीय निवासियों को उजाड़कर उन्हें बेरोजगारी, अवसाद और भुखमरी का शिकार बनाकर किया जाए – वास्तव में यह विकास और विनाश एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों ही आधुनिक विज्ञान की अध्ययन–पद्धति के मूल में अन्तर्निहित हैं। पर्यावरण का वर्तमान संकट स्थूल जगत की विद्रूपता मात्र नहीं है, अपितु एक आध्यात्मिक संकट है; यह परम्परागत दर्शन एवं जीवन के प्रति अनास्था एवं ऐहिक जीवन में अतिशय आसक्ति का परिणाम है। आधुनिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी इसको वैचारिक आधार प्रदान करते हैं और वर्तमान उपभोगवादी संस्कृति एवं आर्थिक संसाधनों की प्रचुरता उसे संपोषित एवं संवर्द्धित करती है।

सत्य तो यह है कि वैज्ञानिक–प्रौद्योगिक विकास और ब्रह्माण्ड के आश्रय–विन्यास की रक्षा– इन दोनों में मौलिक विरोध है। दोनों तत्त्वतः दो परस्पर विरोधी विचार–सरणियों से सम्बद्ध हैं। एक बाह्यमुखी, एकांगी, व्यष्टिपरक, परिमाणात्मक एवं रेखीय (linear) है; दूसरी अन्तर्मुखी, बहुआयामी, समष्टिमूलक, द्वन्द्वात्मक एवं गुणात्मक है। ब्रह्माण्ड जीव का लौकिक आश्रय है, जिसके साथ उसका सहज सामंजस्य है; तथा जिससे वह अपने जीवन–निर्वाह के लिए आवश्यकतानुसार यथोचित सामग्री प्राप्त करता है। यह सृष्टि के विभिन्न तत्त्वों, प्राणियों, वनस्पतियों और पदार्थों, के अन्तर्सम्बन्धों की समग्र एकता है, अथवा विश्व के विभिन्न अवयवों का पूर्ण रागात्मक समन्वय (harmony) है। यह एक implicate order है, अर्थात् इसका एक–एक अवयव परस्पर तथा सम्पूर्ण–व्यवस्था से गुणात्मक रूप से घनिष्टतः सम्बद्ध है। यदि इसमें एक सीमा के बाहर हस्तक्षेप किया जाएगा, या उसके साथ मनमाने ढंग से छेड़–छाड़ की जाएगी, तो उसका सहज सन्तुलन, उसकी सावयवी एकता नष्ट हो जाएगी। उस विनष्ट एकता तथा सन्तुलन को पुनर्स्थापित करने के लिए हमें अन्यान्य अगण्य परिवर्तन करने होंगे। यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक हम सृष्टि की पूरी व्यवस्था को न बदल दें, अर्थात् बिना किसी पूर्व–प्रदत्त उपादान के सम्पूर्ण सृष्टि का नव–निर्माण (*exnihilo* creation of Second Reality) अपनी इच्छानुसार करने में सफल न हो जाएँ। स्पष्टतः यह सर्वथा असंभाव्य और अपरिकल्पनीय है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास चाहे जिस स्तर का और जितने विस्तार का हो, सृष्टि की मूल प्रकृति को नहीं बदल सकता।

असंतुलित और अमर्यादित विकास के अनिष्ट एवं अवांछित परिणामों के परिहार के लिए 'विकास–सिद्धान्त' के कुछ समर्थकों ने सम्भरणशील अथवा धारणीय विकास (sustainable development) की संकल्पना प्रस्तुत की है। किन्तु वस्तुतः यह विकास के सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या नहीं, वरन् उसकी आलोचना है। दूसरे शब्दों में, यह धारणा विकास की धारणा के सर्वथा प्रतिकूल है। सम्भरणशीलता में परिमिति (measure), संयम एवं स्थायित्व की भावना का विशेष रूप से सन्निवेश है जो अनवरत, असीम किन्तु अनिर्दिष्ट गतिशीलता की आधुनिक परिकल्पना के सर्वथा विपरीत है। सम्भरणशीलता की मांग है कि विकास को विराम दिया जाए, आन्तरिक और बाह्य जीवन में समन्वय स्थापित किया जाए और मध्यम मार्ग का अनुसरण किया जाए।

विचारणीय प्रश्न यह भी है कि विकास का अभिप्राय क्या है? इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि वर्तमान युग में विकास एक अंधविश्वास का रूप धारण कर चुका है। अब तो सभी राजनीतिक दलों का भी यह सबसे प्रिय छलावा बन चुका है। बिना यह बताए कि किस वस्तु का किस अर्थ में विकास हो रहा है; अथवा विकास किस अर्थ में, किस सीमा तक और किस कीमत तक वांछित है; विकास को एक सर्वग्राह्य तथा स्वयंसिद्ध अवधारणा के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। परम्परागत दर्शन में विकास का कोई सिद्धान्त नहीं है, उपलब्ध साहित्य में भी यह एक अपरिभाषित शब्द है। परम्परा में तो *Tao, Dike,* Justice, Righteousness आदि धर्ममूलक प्रत्ययों की बात कही गयी है, जो आधुनिक विकासवादी चिन्तन से सर्वथा भिन्न हैं। इन परम्परागत प्रत्ययों की मुख्य विशेषताएँ सामंजस्य, स्वरानुरूपता (harmony), सन्तुलन, समानुपात (ratio), परिमिति, दैवी अभिक्रम (Hierarchy=Hieros=Divine=Archy=Order) एवं पूर्णत्व (Perfection) हैं, जो विकास की अवधारणा के सर्वथा प्रतिकूल हैं। अच्छा होता यदि हम सामाजिक विज्ञानों एवं सामान्य चिन्तन में प्रचलित विकास की शब्दावली का ही सर्वथा परित्याग कर देते। वैसे भी यदि विकास का अभिप्राय यह है कि लोगों की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो, अथवा शोषण–विहीन, न्यायोचित समाज की स्थापना हो, तो यह सम्यक् अर्थ–व्यवस्था व न्याय का सिद्धान्त हुआ, न कि विकास का। विडम्बना यह है कि आजकल मानव को भी संसाधन मानकर उसका विकास करने की एक नई परिकल्पना ने जन्म

ले लिया है। इससे भी बड़ी विडम्बना यह है कि मनुष्य के अभ्युदय के आध्यात्मिक–नैतिक क्षेत्रों की पूर्ण अवहेलना करते हुए यहाँ भी उसी भौतिक–आर्थिक विकास को महत्त्व दिया जा रहा है। विकास और विकास की मान्यता से जुड़ी क्षमता–उपागम (capability approach) तथा स्वतंत्रता आदि अवधारणाओं की व्यापक समीक्षा के उपरान्त भी यही सत्य प्रकट होता है कि आधुनिक विज्ञान और अनियंत्रित प्रौद्योगिकी पर निर्भर 'विकास' आधुनिक युग का सबसे भ्रामक मिथ्याप्रवाद है। अतः इस विकास के केन्द्र में विद्यमान ऐहिक विज्ञान की सीमा से बाहर निकलकर समस्त सृष्टि को ईश्वर के प्रतिभास (theophany) के रूप में हृदयंगम करना ही हमारा सम्यक् लक्ष्य होना चाहिए।

दुर्भाग्य से आज भारतवर्ष में भी वैज्ञानिकता को लेकर कई प्रकार के दृष्टिभ्रम प्रसारित किये जा रहे हैं, और कई प्रकार की अनपेक्षित परिस्थितियाँ उत्पन्न की जा रही हैं। इन सबकी भी निर्मम समीक्षा का समय आ गया है। सर्वप्रमुख चिन्ता का विषय तो यह है कि धीरे–धीरे हमारे मानस से यह भाव ओझल होता जा रहा है कि भारत की मुख्य प्रतिष्ठा एक ज्ञान–मूलक परम्परा होने से है। आज ज्ञान की अखण्ड सत्ता के प्रति भारतवर्ष अपना दायित्व विस्मृत करता जा रहा है। या तो ज्ञान से अभिप्राय सूचनाओं से लगाया जाने लगा है, अथवा पश्चिमी उच्छिष्ट आज के भारतवर्ष में ज्ञान का आतंक बना हुआ है। यही कारण है कि राष्ट्र की प्रतिष्ठा क्रिकेट, सिनेमा, एवरेस्ट आरोहण, पैसे, शोहरत अथवा पद से आँकी जा रही है। इन्हीं क्षेत्रों के लोग राष्ट्र के विभिन्न उपक्रमों के 'ब्राण्ड एम्बेसडर' बन रहे हैं, इनकी आवभगत के लिए प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित संस्थान लालायित रहते हैं। इनके प्रभाव से अनर्गल और तुच्छ वस्तुओं और कार्यों के प्रति राष्ट्र में एक आत्मघाती आकर्षण का भाव बढ़ता जा रहा है। ज्ञान की वास्तविक सत्ता के विस्मरण तथा उसके प्रति सम्मान के भाव के क्षीण होने का यह स्पष्ट संकेत है। वास्तव में यह राष्ट्र के बुनियादी चरित्र का स्खलन है, एक साधनामूलक परम्परा के प्रति दुर्भाग्यपूर्ण उपेक्षा का लक्षण है।

स्वतंत्रता का भारत के लिए, अपने वृहत्तर प्रभाव–क्षेत्र सहित, एक राजनीतिक मूल्य ही नहीं था, वरन् अपनी संस्कृति और सभ्यता के विश्वबोध को अपने जीवन में पुनर्प्रतिष्ठित करने का एक आदर्श भी था। दुर्भाग्य से

स्वतन्त्रता के उपरान्त भारतीय जीवन की मुख्यधारा (Mainstream) ही आधुनिक विकृतियों का शिकार हो गयी। परिणाम यह हुआ कि जो धारा नवोदित राष्ट्र की मुख्य धारा बनी, उसकी राष्ट्र की परम्परागत जीवन–दृष्टि के साथ कोई सामंजस्य नहीं था, और जो राष्ट्र की परम्परागत जीवन–दृष्टि थी, उसको राष्ट्र की निवर्तमान मुख्यधारा में किनारे कर दिया गया। दूसरे शब्दों में, राष्ट्र की तथाकथित मुख्यधारा में राष्ट्र के वास्तविक जीवनादर्शों के लिए अनुकूलता ही नहीं बची, इसलिए एक ओर जहाँ राष्ट्र की परम्परागत संस्थाएँ राष्ट्र की 'मुख्यधारा' के लक्षणों का वाहक बनने में कठिनाई का अनुभव करने लगीं वहीं ये बची–खुची संस्थाएँ या समुदाय स्वयं हाशिए पर आ गए। विडम्बना यह रही कि 'समावेशी विकास' जैसे नारे भी उन संस्थाओं अथवा समुदायों को तो 'मुख्यधारा' में लाने की पैरवी करने लगे जो वस्तुतः आधुनिक पूँजीवादी अर्थ–रचना के ही वास्तविक शिकार थे, किन्तु उन परम्परागत संस्थाओं और समुदायों की स्थिति हाशिए पर रहने के उपरान्त भी उपेक्षित ही बनी रही, जिनके लिए इस 'मुख्यधारा' से अपने आदर्शों से च्युत हुए बिना संगति बिठाना दुष्कर या लगभग असंभव था।

इधर दूसरी ओर उस 'मुख्यधारा' की स्थिति भी निरापद नहीं कही जा सकती। जहाँ एक ओर इसे आधुनिक जीवन–दृष्टि के अनुरूप अनेक विरोधी युग्मों के पारस्परिक संघर्षों से दो–चार होना पड़ा, वहीं दूसरी ओर पूँजीवादी प्रवृत्ति के प्रभाव के कारण यह संघर्ष निरन्तर कटु से कटुतर होता गया। भारतीय बौद्धिकों की असफलता यह रही कि व्यक्ति बनाम समाज, समाज बनाम राज्य, समृद्धि बनाम पोषणीयता (sustainability), पुरुष बनाम स्त्री, अमीर बनाम गरीब, साधु बनाम सांसारिक, पारलौकिक बनाम लौकिक, जड़ बनाम चेतन, एक जाति बनाम दूसरी जाति तथा एक धर्म/सम्प्रदाय बनाम दूसरा धर्म/सम्प्रदाय जैसी अनेकानेक 'विरोधी' अवधारणाओं को उन्होंने आधुनिक पश्चिमी समाज–विज्ञानों के प्रभाव से स्वीकार तो कर लिया, किन्तु संघर्ष के स्थान पर सामंजस्य और समरसता को देखने की उस भारतीय दृष्टि का वे अवगाहन नहीं कर सके, जिसके बिना इन तथाकथित विरोधी भावों के अन्तस्तल को पहचाना ही नहीं जा सकता।

राष्ट्र के भावी जीवन में पीढ़ी दर पीढ़ी ऐसी परिस्थितियाँ बनती गयीं जिसमें राष्ट्रीय जीवन के आदर्शों के प्रति ही नई पीढ़ी में कोई आकर्षण

नहीं बचा। धीरे–धीरे इन राष्ट्रीय आदर्शों के लक्षणों से युक्त महापुरुषों और मनीषियों के प्रति भी यह आकर्षण धुँधलाता चला गया। अब तो यह स्थिति आत्मविस्मृति और आत्मसंभ्रम के स्तर तक पहुँच गयी है। अपने ही देश–समाज में हमारी हालत बेगानों की हो गई है। इस स्थिति का परिणाम धीरे–धीरे अपसंस्कृति की स्वीकृति और उसके विस्तार के रूप में दिखाई दे रहा है। एक ऐसी संस्कृति जिसकी निर्मिति में विद्यानुराग की प्रधानता रही हो, एक ऐसी अपसंस्कृति का शिकार होती जा रही है जिसमें विद्यानुराग, विद्यानुरागियों और विद्याकेन्द्रों के प्रति आत्मीय सम्मान का भाव क्षीण होता जा रहा है। विद्या–साधना अब कोई प्रथम कोटि का जीवनादर्श नहीं रहा। विद्या–क्षेत्र से जुड़े व्यक्तियों में भी वांछित आत्म–गौरव दुर्लभ हो गया है। इनके विद्या–केन्द्रों को कितने भी हज़ार करोड़ की धनराशि दे देने से उनमें भला क्या बुनियादी बदलाव आ सकता है? अब तो राष्ट्र की मुख्यधारा की सबसे प्रभावी निर्धारक शिक्षा–प्रणाली को विदेशी और आप्रवासी शिक्षकों से आच्छादित करने का संकल्प व्यक्त किया जा रहा है। यह हमारी विद्या–परम्परा के सन्निपातग्रस्त हो जाने का स्पष्ट लक्षण है।

इसी प्रकार, ऋण–परम्परा का क्षरण जिस प्रकार आज के भारतीय समाज में हो रहा है, उस पर भी विचार करने की आवश्यकता है। देश के युवाओं का स्वप्निल मार्ग अपने घर–समाज से कोटा और बैंगलोर होते हुए कैलीफोर्निया तक तय हो चुका है। इस 'प्रतिभा'–पलायन की मानसिकता के चलते और एक दूरस्थ विजातीय परिवेश में हम इनसे किस देवऋण की बात कर सकते हैं। अपनी विद्या–परम्परा के विजातीय तत्त्वों से दूषित होने का ही परिणाम है कि आज उपनिवेशवाद से मुक्ति (decolonization) जैसे विचारों की आवश्यकता आ पड़ी है। नकल के दम पर तथाकथित स्वदेशी विकास का दम भरते हुए हम किस ऋषि–ऋण को चुकाने की कल्पना कर सकते हैं। विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों, यथा चिकित्सा–विज्ञान और अन्तरिक्ष–विज्ञान में जो कुछ भी हमने 'हासिल' किया है, वह ईमानदारी से कहा जाए तो शुद्ध रूप से नकल है। हमारे विद्यार्थी और वैज्ञानिक पहले विदेशी उपकरणों को खरीदकर उन पर हाथ साफ करते हैं और फिर उनकी नकल कर देश में उनके पुर्जों को जोड़ना (assembling) सीख लेते हैं, जिसे स्वदेशी तकनीक कहा जाने लगता है। कृषि और पशुपालन जैसे जीवन्त क्षेत्रों में बिना सोचे समझे किये गये 'वैज्ञानिक' परिवर्तनों का

दुष्परिणाम कोई भी संवेदनशील और समझदार व्यक्ति आसानी से देख सकता है। जैसे बच्चे दूसरे बच्चों के खिलौनों को देखकर मचलने लगते हैं, वैसी ही बालवत् उद्विग्नता बुलेट ट्रेन जैसी सुविधाओं को लेकर हमारे बड़े–बड़े नीति–नियन्ताओं के मन में व्याप्त है। ये विसंगतियाँ केवल अर्थनीति तक सीमित नहीं हैं, क्योंकि जीवन खण्डमय नहीं होता। ये हमारे सामाजिक ताने–बाने को भी क्षत–विक्षत कर रही हैं। गौ और कृषि के प्रति हमारे मन में बढ़ता विकर्षण का भाव केवल हमारे बदलते आर्थिक ताने–बाने का ही परिणाम नहीं है, इस ताने–बाने ने हमारे अपने–पराये के बोध को दरका दिया है। अपनों को अपनाने के लिए जिस आत्मीयता की आवश्यकता होती है, वह सूखती जा रही है। इसलिए गौ और कृषि से हमारा स्वाभाविक रिश्ता सूखता जा रहा है। गाय और कृषि यदि हमारे जीवन के अभिन्न अंग नहीं रहे तो गोशालाओं और सहकारी कृषि के सहारे बहुत दिनों तक इनकी रक्षा नहीं की जा सकती। इसी प्रकार, पितृऋण की हमारी संकल्पना धर्म–सन्तति के भाव पर टिकी संकल्पना है। व्यावहारिक भाषा में, जब तक देश में प्रथम कोटि की मेधा प्रथम कोटि के कार्य के प्रति आकर्षित नहीं होगी, इस ऋण से भी उऋण नहीं हुआ जा सकता। सीधे शब्दों में, जब तक देश की प्रथम कोटि की मेधा विद्या–परम्परा की रक्षा अर्थात् शिक्षण–कार्य की ओर आकर्षित नहीं होती, हम अपने पूर्वजों के ऋण से उऋण हो ही नहीं सकते। यह पूर्वजों का गौरव ही व्यापक अर्थ में हमारा राष्ट्रबोध है, और आत्मगौरवहीन शिक्षक कभी राष्ट्रगौरव का सम्वर्द्धन नहीं कर सकते। जो कुछ लोग देश में अपने इस दायित्व का ठीक प्रकार से पालन करना भी चाहते हैं, वे या तो उपेक्षित हैं, अथवा एक प्रकार के राजनीतिक व्यभिचार के शिकार हैं। भारत एक परिवार–केन्द्रित सभ्यता है, इसी संस्था में मनुष्य के व्यक्तित्व को कुसुमित होने का अवसर प्राप्त होता है, और वह एक व्यापकतर विराट् के प्रति अपने सम्बन्ध और दायित्व का बोध प्राप्त कर पाता है। दुर्भाग्य से आधुनिक भारत की दृष्टि व्यक्ति–केन्द्रित बन चुकी है, सरकार की योजनाओं से लेकर समाज की संरचना तक इस दृष्टि के व्यापक प्रभाव का अवलोकन किया जा सकता है। व्यक्ति–केन्द्रित दृष्टि सामूहिकता और सामाजिकता के लिए वांछित सहयोग, सहानुभूति, प्रेम और त्याग की भावना को क्षीण करते हुए परिवारों के अन्दर और परिवारों के मध्य घोर असमानता, अविश्वास, स्वार्थ,

प्रतिस्पर्द्धा, बिखराव और तज्जनित विसंगति को जन्म दे रही है। स्त्रियों में जिस प्रकार विजातीय संस्कार तेजी से बढ़ रहे हैं और अनपेक्षित कार्यों के माध्यम से उन्हें जिस प्रकार की शोहरत मिल रही है, उससे समाज की सांस्कृतिक रीढ़ तेजी से कमजोर होती जा रही है। इसकी सबसे बड़ी कीमत बच्चे और वृद्धजन अदा कर रहे हैं। भारतीय समाज भी धीरे–धीरे अब लावारिस बच्चों और बेसहारा वृद्धों का समाज बनता जा रहा है। स्पष्ट है कि इन स्थितियों के रहते कोई समाज अपने ऋण–बोध से दूर ही होता चला जाएगा।

इधर विद्या और विज्ञान के क्षेत्र में एक और प्रयोग तेजी पकड़ रहा है। दर्शन, योग, आयुर्वेद, ज्योतिष और संगीत जैसी विशिष्ट, गुह्य और आत्मपरक विद्याओं का हम तेजी से 'वैश्वीकरण' करते जा रहे हैं। हमें यह तथ्य विस्मृत होता जा रहा है कि इन विद्याओं का एक विशिष्ट भारतीय संदर्भ है और इनकी साधना के लिए एक विशिष्ट परम्परा प्रदत्त गुरु–शिष्य–मर्यादा–युक्त और साधनापरक मार्ग वांछित है। हम भारतीयों के कुछ विशिष्ट प्रश्न हैं जो हमारी ही चित्तवृत्ति और संस्कार की उपज हैं और जिन्हें हम भारतीय ही सम्यक् रूप से ग्रहण कर सकते हैं– कर्म–सांकर्य से बचते हुए योगस्थ और भगवद्प्रीतियुक्त होकर हम अपने आत्मबोध का लक्ष्य कैसे प्राप्त करें– हमारे दर्शन, हमारी भगवद्गीता हमारे इन विशेष प्रश्नों का विशिष्ट समाधान हमारे लिए प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार, योग हमारी चित्त–वृत्ति को संयमित करते हुए हमें अपने विराट् सांस्कृतिक–बोध के निकष–स्वरूप प्राप्त आत्म–बोध में लय करने की हमारी विशिष्ट युक्ति है। आयुर्वेद इस आत्मबोध के लिए हमें अपने वातावरण के अनुरूप शारीरिक और मानसिक रूप से तैयार करने की विद्या है। ज्योतिष सृष्टि को देखने की तथा सृष्टि से प्रकाशित होने की हमारी अपनी विधा और संगीत हमारी अपनी आत्मा के सुरों को झंकृत करने तथा चित्त को भगवदोन्मुख करने की कला है। इन सभी विद्याओं का स्वरूप साधनापरक है, किन्तु देश में दुर्भाग्य से ऐसा वातावरण, ऐसी परिस्थिति और ऐसी मनोदशा का निर्माण हो रहा है जो नितान्त साधना–विरोधी और परिणामतः विद्या–विरोधी है। दूसरी ओर, इन विद्याओं को वैश्विक मान्यता दिलाने के एक ऐसे निरर्थक उद्योग में हम संलग्न हैं जिसका एकमात्र परिणाम इन विद्याओं के विरूपित होने के रूप में सामने आ रहा है। अत्यन्त

गुह्य और विशिष्ट प्रकृति की इन विद्याओं का जिस तेजी से सामान्यीकरण और सामूहिकीकरण हो रहा है जो साधना–प्रक्रिया और विद्या के स्वरूप, दोनों के लिए घातक है। जन–सामान्य में इन विद्याओं के अवतरण की एक समानान्तर लोक–परम्परा हमारे यहाँ विद्यमान रही है, यह परम्परा तेजी से नष्ट होती जा रही है; पंचायतों के माध्यम से गाँवों का शहरीकरण करने वाली सरकारी योजनाओं की इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका है। हम भावनात्मक प्रतीकात्मकता और बौद्धिक प्रमाद के शिकार होते जा रहे हैं। संचार के साधनों ने हमें, और विशेष रूप से हमारी युवा पीढ़ी को कहीं का नहीं छोड़ा। एक निरर्थक और बातूनी सभ्यता के रूप में हम विकसित होते जा रहे हैं। सोशल मीडिया के माध्यम से समाज की बुद्धि–मति में व्याप्त सारा अधकचरापन सतह पर आ चुका है। बौद्धिक परिवेश में गम्भीरता का बुरी तरह से ह्रास हुआ है। हम एक झटके में सब कुछ खारिज़ करने या सब कुछ स्वीकार करने वाली, और इसी तरह एक ही झटके में सब कुछ प्राप्त करने या सब कुछ समाप्त करने वाली ज़मात बनते जा रहे हैं।

इस आपाधापी में हमारे शिक्षण संस्थान एक नई उहापोह में पड़े हुए हैं। वे तकनीकी और जीविकोपार्जन से जुड़े प्रतिस्पर्द्धी पाठ्यक्रमों के साथ कभी समाज–विज्ञानों, कभी मानविकी, तो कभी नैतिक शिक्षा जैसे विषयों का विसंगतिपूर्ण घालमेल कर रहे हैं। वे यह समझने को तैयार ही नहीं हैं कि आधुनिक समाज विज्ञानों और मानविकी विषयों की तासीर में ही उस आधुनिकता का विष विद्यमान है जो हमारे नैतिक मानदण्डों का सर्वथा तिरस्कार और निषेध करता है। इस प्रकार की नासमझी भरे जोड़–तोड़ से कुछ भी हासिल होने वाला नहीं। ये एक प्रकार से मनुष्य के व्यक्तित्व की एकता को खण्डित करने वाली दृष्टि का भी परिणाम है जो यह मानती है कि पहले भौतिक विकास सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी हो जायें फिर नैतिक–आध्यात्मिक उन्नयन भी सुनिश्चित कर लिया जायेगा। ऐसा मानने वाले ये भूल जाते हैं कि नैतिक–आध्यात्मिक तत्त्व से रहित कोई सुसंगत भौतिक विकास सम्भव ही नहीं होता और यदि ऐसा यत्न किया भी जाये तो भौतिक विकास का भोग मनुष्य को आत्मिक रूप से इतना थका देने वाला और उसकी धारणा–शक्ति को इतना जीर्ण कर देने वाला होता है कि उसके पास नैतिक–आध्यात्मिक उन्नयन हेतु आत्मिक बल शेष ही नहीं बचता। पहले हम नष्ट करें, फिर दूसरे हमारे लिए बचायें, फिर हम उनका

उपभोग करें और स्वस्थ सानन्द रहें – ऐसी परजीवी मानसिकता हमारी उन मान्यताओं में दृष्टिगत होती है जिन्हें हम जीवन स्तर (Standard of Life) और गुणात्मक जीवन (Quality Life) जैसे नामों से जानते हैं। भारतवर्ष में 'स्मार्ट सिटी' की धारणा भी इसी प्रकार की प्रेरणा से उपजी धारणा है। इस सम्बन्ध में बीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध तत्त्वशास्त्री, दार्शनिक और कलाविद् आनन्द कुमारस्वामी का यह कथन द्रष्टव्य है कि :

The beginning of the very idea of standard of life is the beginning of the destruction of the very fabric of the society.

इसी प्रकार, दो खतरनाक विचारों को भी भारतीय बौद्धिक–विमर्श में जगह मिल रही है। वे हैं सेकुलर और आधुनिक होने का भारतीय संस्करण। भारतीय सेक्युलरिज़्म, हिन्दू सेक्युलरिज़्म और इनके विरोध में छद्म सेक्युलरिज़्म (Pseudosecularism) तथा भारतीय आधुनिकता जैसी भ्रामक धारणाओं के माध्यम से सेक्युलरिज़्म और आधुनिकता के किसी 'भारतीय' स्वरूप–विशेष को बचाये और बनाये रखने की आत्मघाती कोशिश भी भारतीय बौद्धिक जगत में जारी है। इस बारे में हमें स्पष्ट हो जाना चाहिए कि किसी भी अर्थ में भारतीय समाज और संस्कृति सेक्युलर या आधुनिक नहीं है। सम्यक् भारतीय दृष्टि से ये अवधारणाएँ पूर्णतः त्याज्य अवधारणाएँ हैं। अतः, भारतीयता के मूल स्वरूप का कभी विस्मरण न करते हुए हमें इस बात का हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि युगधर्म की मान्यता तो भारतीय परम्परा में स्वीकार्य है, पर आधुनिकता मूलतः एक आसुरी 'संस्कृति' है। आनन्द कुमारस्वामी के शब्दों में,

Modern Civilization is a murderous civilization without any conscience and ideals.

स्पष्ट है कि स्वाभाविक भारतीय जीवन राजनीति–केन्द्रित न होकर समाजोन्मुख और धर्मानुशासित जीवन रहा है। यहाँ लोगों को राजनीति में अपनी हिस्सेदारी की नहीं, धर्म में अपने प्रतिभाग की चिन्ता रहती थी। वर्णाश्रम, ऋण–त्रय, पुरुषार्थचतुष्ट्य और कर्म के सिद्धान्त के तात्त्विक निवेश से युक्त उनका समाज उनके विश्वास का आधार रहा है। राजसत्ता को भी तद्नुरूप व्यवहार करते हुए इस विश्वास को हासिल करना होता था। इस चिर–सुगठित बुनियाद को दरकाकर जिस राजनीतिक सहभागिता को अतिशय उभार देने का प्रयास किया गया, उसने इस समाज की समझ और व्यवस्था, दोनों को ही छिन्न–भिन्न कर दिया है। इसी

छिन्न–भिन्नता का निराकरण हम कभी राजनीति के माध्यम से, तो कभी आर्थिक माध्यम से करने का निष्फल प्रयास करते रहते हैं।

भारतवर्ष में शिक्षा का प्रश्न बहुत उलझ चुका है। भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के परिणामस्वरूप जिस शिक्षा–दृष्टि और तद्नुरूप जिस शिक्षा–व्यवस्था को स्थापित किया गया, उसके विजातीय स्वरूप से सुधीजन अवगत हो चुके हैं। विकल्पतः, भारतीय दृष्टि के शिक्षा–विधान की चर्चा भी बलवती हो रही है। विडम्बना यह है कि आज भारत की अधिकृत शिक्षा–व्यवस्था स्वरूपतः भारतीय नहीं है, और यदि भारतीय शिक्षा–व्यवस्था जैसा कुछ बनाने की चेष्टा हो रही है, तो वह अधिकृत नहीं है। कुल मिलाकर ऐसा प्रतीत होता है कि हम एक अनजान वीथिका में भटकते रहने को अपनी नियति मान बैठ हैं।

ध्यातव्य है कि भारतवर्ष में स्वाधीनता–आन्दोलन के समय से ही इस बात की आवश्यकता बनी रही कि अपनी स्वजातीय जीवन–दृष्टि के अनुरूप शुद्ध विद्याओं की रक्षा तथा श्रेष्ठता की परम्परा का पालन करते हुए एक तद्नुरूप शिक्षा–विधान पुनर्स्थापित हो सके, जिससे हमारे अन्दर अपने समाज, अर्थ और राज्य–विधान की समझ और स्वीकार्यता बनी रहे। दुर्भाग्य से भारतवर्ष में शिक्षा के प्रश्न को लेकर ऐसी संवेदनशीलता पिछली एक सदी में कभी नहीं दिखी। तभी तो लगभग सौ वर्ष पूर्व भारतीयों की जिस मनोदशा का वर्णन आनन्द कुमारस्वामी ने किया था, वह आज भी यथावत् है। 1909 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *Essays in National Idealism* में वे लिखते हैं–

The most crushing indictment of this Education is the fact that it destroys, in the great majority of those upon whom it is inflicted, all capacity for the appreciation of Indian culture. Speak to the ordinary graduate of an Indian University, or a student from Ceylon, of the ideals of the *Mahabharata*- he will hasten to display his knowledge of Shakespeare; talk to him of religious philosophy- you find that he is an atheist of the crude type, common in Europe a generation ago, and that not only has he no religion, but he is as lacking in philosophy as the average Englishman; talk to him of Indian music- he will produce a gramophone or a harmonium, and

inflict upon you one or both; talk to him of Indian dress or jewellery- he will tell you that they are uncivilized and barbaric; talk to him of Indian art- it is news to him that such a thing exists; ask him to translate for you a letter written in his own mothertongue- he does not know it. He is indeed a stranger in his own land.

द्रष्टव्य है कि आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व का भारतीय शिक्षा–व्यवस्था और शिक्षा–दृष्टि के सम्बन्ध में किया गया कुमारस्वामी का अवलोकन आज भी अद्यतन लगता है। किन्तु विखण्डित और आत्म–विभाजनकारी आधुनिक शिक्षा के कारण अपनी प्रतिष्ठा और अपने गौरव को पहचानने की दृष्टि ही भारतीयों ने खो दी। हमारा काल–बोध, हमारा कर्त्तव्य–बोध और हमारा सौन्दर्य–बोध, सब कुछ छिन्न–भिन्न हो गया। हमारे लिए क्या सम्मानजनक है, और क्या अपमानजनक है– यह तय करने का हमारा विवेक ही जाता रहा। विचारकों ने इसे आध्यात्मिक दृष्टिहीनता अथवा आत्मीय रुग्णता (Sickness of the Soul) कहा है। भारतीय पुरुषों और स्त्रियों का कुल–बोध और पारिवारिक गरिमा के अनुरूप आचरण करने का सुदृढ़ भाव इसी मतिभ्रम के कारण शिथिल और उपेक्षित पड़ गया। वरना, हमें अपने बच्चों को आंगनबाड़ी और बुजुर्गों को वृद्धाश्रमों के सहारे छोड़ने की शर्मनाक स्थिति न आ पाती। कुमारस्वामी आगाह करते हैं कि ऐसी राजनीतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं है, जहाँ हमारी चिति को सुनिश्चित और हमारी आत्मा को स्पर्श करने वाले तत्त्व ही विजातीय प्रभाव से ग्रसित हों।

नई (राष्ट्रीय) शिक्षा–नीति में जिन विचारों, संकल्पनाओं और दृष्टियों को महत्त्व दिया गया है, उनके विश्लेषण के लिए हमें भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की वीथिका में प्रवेश करना पड़ेगा। लखनऊ समाजशास्त्रीय पीठ के ख्यातिलब्ध विद्वान प्रोफेसर ए.के. सरन का मानना है कि भारत का स्वाधीनता संग्राम जहाँ एक ओर समाजार्थिक दृष्टि से प्रगतिवादी प्रकृति का था, वहीं सांस्कृतिक दृष्टि से पुनरूत्थानवादी था। इस पुनरूत्थानवादी सांस्कृतिक धारा को 'पुनर्जागरण' कहा गया। प्रोफसर सरन मानते हैं कि इसे सम्यक् अर्थों में पुनर्जागरण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस तथाकथित पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप भारतीय मानस में

कुछ आधारभूत दुविधाएँ और मूल्यात्मक विभेद उत्पन्न हो गए। ये दुविधाएँ और विभेद देश की स्वाधीनता को प्रमुखता देने के कारण उस समय तो प्रभावी नहीं दिखे, किन्तु स्वातंत्र्योत्तर भारत में इन्होंने विनाशकारी प्रभाव उत्पन्न किया है।

स्वाधीनता–संग्राम के दौरान विदेशी आधिपत्य से मुक्त होने के प्रश्न पर तो आम सहमति बन गई, किन्तु अपने सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों के पश्चिमीकरण के प्रति हमारी क्या दृष्टि होनी चाहिए, यह प्रश्न अभी तक अनसुलझा है; तथा पश्चिमीकरण के इस प्रश्न पर दुविधा, असमंजस और मतान्तर अभी तक बना हुआ है। इस दुविधा और असमंजस का प्रभाव हमारी शिक्षा–व्यवस्था में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। कभी पश्चिमी सभ्यता के समक्ष स्वाभिमानपूर्वक खड़े होने को लेकर जिन आधुनिक पश्चिमी मूल्य–मान्यताओं और पद्धतियों को हमने अपने शिक्षा–तन्त्र में प्रवेश कराया, वे अन्ततः हमारे आत्म–गौरव के लिए हीनता–बोधक ही सिद्ध हुईं।

प्रोफेसर सरन के इन निष्कर्षों की पुष्टि भारत में शिक्षा–नीति के बारम्बार बदलने के प्रयास में देखी जा सकती है। इसे एक गम्भीर और दोहरी विडम्बना ही कहा जाएगा कि अपनी शिक्षा–नीति में सुधार के नाम पर हम दिनों–दिन स्वयं पश्चिम में तिरस्कृत पद्धतियों और विचारों को समाहित किए जा रहे हैं, और इस विसंगति को अपनी उपलब्धि मानकर इस पर आत्ममुग्ध हुए जा रहे हैं। जिन परिवर्तनों पर हम गर्वोन्मत्त हो रहे हैं, वे वस्तुतः आधुनिक पश्चिमी मानस की फूहड़ अनुकृति के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। वैसे भी देखा जाए तो किसी राष्ट्र की शिक्षा–नीति में बार–बार बदलाव की आवश्यकता उत्पन्न होना एक गहरे आध्यात्मिक, नैतिक और बौद्धिक संकट का संकेत ही माना जाना चाहिए। किसी भी प्रशान्तचित्त–व्यक्ति को यह आसानी से समझ में आ सकता है कि हम अन्दर से एक अशान्त, अस्थिर और दुविधाग्रस्त सभ्यता के वाह्क बन चुके हैं। इसलिए किसी भी राष्ट्र के लिए यदि बार–बार अपनी शिक्षा–नीति को बदलने की आवश्यकता पड़ रही है तो यह अपने राष्ट्रीय चरित्र के प्रति बार–बार शंकालु होने का चित्रण है।

राष्ट्र की इस संकटग्रस्त आत्मा की प्रतिध्वनि सुनने के लिए हमें अपने विश्वविद्यालयों की ओर कान लगाना होगा। हमारे विश्वविद्यालयों में

समाज विज्ञानों, साहित्य, दर्शन, मनोविज्ञान और इतिहास के क्षेत्र में जो कुछ भी पढ़ाया जा रहा है, वह सब वास्तव में मनुष्य और समाज के प्रति एक भ्रमित, विकृत या सन्दर्भ–रहित दृष्टि का परिणाम है। आधुनिकता और उत्तर–आधुनिकता के नाम पर उदारवाद, नव–उदारवाद, इच्छा–स्वातन्त्रयवाद, समाजवाद, मार्क्सवाद, नववामपंथ, नारीवाद, पर्यावरणवाद, बहुसंस्कृतिवाद, समुदायवाद, सबाल्टर्नवाद और आधुनिक राष्ट्रवाद जैसी जितनी भी अवधारणाएँ हमारे विश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रम को आच्छादित किए हुए हैं, वे सभी विश्वविद्यालयों को अमृत–कलश के स्थान पर विष–कुम्भ बनाती जा रही हैं। वास्तव में, आज के हमारे विश्वविद्यालय अकादमिक श्रेष्ठता और उन्नयन के नहीं, वरन् अकादमिक आपदा और पतन के केन्द्र बने हुए हैं।

किन्तु, विडम्बना यह है कि आधुनिक मनुष्य बौद्धिक रूप से अग्राह्य और तत्त्वतः सर्वाधिकारवादी वैज्ञानिक आविष्कारों एवं तथाकथित उपलब्धियों का दास हो गया है। फ्रिथ्जॉफ शुआँ के शब्दों में यह एक ऐसा विज्ञान है, जिसे स्वयं अपनी सीमा का ज्ञान नहीं है, और इसी कारण वह अपने से परे के अस्तित्व के सम्बन्ध में अनभिज्ञ है। सम्प्रति, इस सम्पूर्ण समस्या को हम पर्यावरण के संकट के रूप में देख सकते हैं। विकास की स्वपरिभाषित (Autotelic), रेखीय (Linear) और असीम (Unlimited) अवधारणा ने श्रेष्ठता (Goodness) और सद्गुण (Virtue) जैसे परम्परागत गुणों को प्रतिस्थापित और विस्मृत कर दिया है। विकास की इस स्वयंसिद्ध दौड़ में हमें कभी इस बात का स्मरण ही नहीं होता कि हम किसका, किस दिशा में, किस सीमा तक, किस उद्देश्य से और किस कीमत पर विकास करते जा रहे हैं। इसलिए, यदि थोड़ा भी ठहरकर सोचा जाए तो यह आसानी से समझ में आ जाता है कि पर्यावरण का वर्तमान संकट मूलतः आध्यात्मिक चेतना के ह्रास, विज्ञानवाद के अभ्युत्थान और प्रसार तथा मानव व प्रकृति के विच्छेद, विनिपात एवं अपवित्रीकरण के वृत्तान्त का निष्कर्ष है। दूसरे शब्दों में, पर्यावरण का संकट आधुनिक विज्ञान की पराचेतना–विहीन निरा जड़–प्रधान दृष्टि का परिणाम है।

वस्तुतः, यह दृष्टि ही आधुनिक विज्ञान का जन्मजात विकार है। यदि सम्पूर्ण जगत को इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो पर्यावरण का संकट केवल वातावरण के प्रदूषण की समस्या तो नहीं ही है, वरन् मुख्यतः आधुनिक

सभ्यता और संस्कृति का संकट है। यह वैयक्तिक बुद्धिवाद और यांत्रिक विज्ञानवाद द्वारा मनुष्य की प्रकृति पर विजय की महत्त्वाकांक्षा का सहज स्वाभाविक परिणाम है। इसी बुद्धिवाद और विज्ञानवाद की देन है– आधुनिक उद्योगवाद, जिसे हम विकास का प्रतिरूप मानते हैं। इस दृष्टि के रहते आधुनिक विज्ञान कभी पर्यावरण जैसे संकट का समुचित समाधान प्रस्तुत कर ही नहीं सकता। कारण कि आधुनिक विज्ञान पर्यावरण को जड़ भौतिक पदार्थों का आपतिक संकलन या बाह्य शक्तियों का प्रासंगिक संयोग–मात्र मानता है। जबकि, सम्यक् दृष्टि में पर्यावरण जीवात्मा का सजीव, प्राणप्रवण लौकिक आश्रय है। सम्पूर्ण दृश्य–जगत एक अदृष्ट पारमार्थिक सत्ता का प्रतिबिम्ब है। पदार्थ की सत्ता में भी एक अत्यंत सूक्ष्म, रहस्यात्मक और तत्त्वबोधक लाक्षणिकता सन्निहित है। इसके अतिरिक्त आकाश, पृथ्वी, वायु, जल और अग्नि जैसे तत्त्वों में घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध भी विद्यमान है, क्योंकि वे एक ही सत्य की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। उनके अपने सर्वथा पृथक या स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं है। आधुनिक प्रत्यक्षवादी विश्लेषणात्मक पद्धति प्रकृति को उसके विभिन्न अवयवों में विभाजित करके विखण्डन–संयोजन (resolution-composition) प्रक्रिया द्वारा उसके स्वरूप को समझने का प्रयत्न करती है, किन्तु इससे उसकी समग्र एकता नष्ट हो जाती है; इसीलिए पर्यावरण की समस्या कोई तकनीकी समस्या नहीं है। यह मानव के पृथ्वी पर अस्तित्व का प्रश्न है। आत्मबोध के अभाव में इस समस्या का समाधान असम्भव है।

बुद्धिवाद मानव और मानवोत्तर, दैहिक और दैविक को संयुक्त करने वाली श्रृंखला अर्थात् प्रज्ञा की अवज्ञा करता है, और इस प्रकार हमें वैयक्तिक एवं ऐहिक जगत तक सीमित कर देता है। दूसरी ओर, यांत्रिक विज्ञानवाद पदार्थ और उसके विस्तार एवं उसकी संरचना को ही अन्तिम सत्य समझता है। बीसवीं सदी के प्रसिद्ध तत्त्वशास्त्री, विचारक और पर्यावरणविद् प्रोफेसर सैयद हुसैन नस्र इस विज्ञानवाद की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि यद्यपि विज्ञान अपने आप में एक वैध विद्या है, किन्तु विज्ञान की भूमिका, उसका कार्य और उसका प्रयोग इस कारण अवैध तथा खतरनाक हो जाता है क्योंकि इसमें एक उच्च–स्तरीय पराविद्या का अभाव तो है ही जो विज्ञान की समग्रता के लिए आवश्यक है, साथ ही यह प्रकृति के पवित्र और आध्यात्मिक मूल्यों का क्षरण भी करता है।

आधुनिक विज्ञान की ज्ञान–प्रक्रिया भाज्य से अविभाज्य की ओर, खण्ड से अखण्ड की ओर जाने की है। यह प्रक्रिया भी आत्म–विरोधी है। अखण्ड से ही खण्ड का ज्ञान हो सकता है। जो सम्पूर्ण है, पूर्णता है, उसके ज्ञान से ही अपूर्ण का ज्ञान सम्भव है। इस प्रकार, विज्ञान (अर्थात् खण्ड ज्ञान या अधूरे ज्ञान) को समाज का आधार बनाना खतरनाक और असम्भाव्य है। वर्तमान में प्रस्तुत पर्यावरण–संकट, आणविक संकट आदि विज्ञान की अधूरे ज्ञान की प्रक्रिया की ही देन हैं। प्रोफेसर ए.के. सरन के अनुसार, ये विज्ञान की पथभ्रष्टता के नमूने नहीं हैं, वरन् विज्ञान के स्वभाव के ही फलित हैं। ये संकट विज्ञान के स्वाभाविक अर्थ की उपलब्धि हैं।

प्रसिद्ध फ्रांसीसी तत्त्वशास्त्री और विचारक रेने गेनों पारम्परिक विद्या और आधुनिक विज्ञान के मध्य अन्तर स्थापित करते हुए कहते हैं कि परम्परा–प्राप्त सनातनी विद्या अथवा ब्रह्मविद्या के तत्त्व में कोई परिवर्तन नहीं होता। ब्रह्मविद्या के विवरण में भिन्नता की सम्भावना है, विषय में नहीं; ब्रह्मविद्या के आवरण में विकास हो सकता है, किन्तु उसका ब्रह्मरूप विषय निर्विकार है। दूसरी ओर, आधुनिक विज्ञान में विभाग करने एवं सामान्य को छोड़कर विशेष पर ध्यान देने की वृत्ति इतनी घनीभूत और व्यापक हो चुकी है कि विभिन्न विषयों की एकभूत समग्रता और इस रूप में इनकी ग्राह्यता लगभग असंभाव्य हो चुकी है। स्वाभाविक है कि ऐसे विज्ञान पर विश्वास करना कितना अधूरा और खतरनाक हो सकता है।

प्रोफेसर नस्र के समकालीन और लखनऊ समाजशास्त्रीय पीठ के परम्परानिष्ठ विद्वान प्रोफेसर ए.के. सरन तो आधुनिक विज्ञान की वैधता को ही चुनौती देते हैं। प्रोफेसर सरन इस अर्थ में विशिष्ट हैं कि वे आधुनिकता की अन्तर्निहित विसंगतियों की आंतरिक और निर्मम आलोचना प्रस्तुत करते हैं। प्रसिद्ध फ्रांसीसी तत्त्वशास्त्री रेने गेनों भी वर्तमान काल की भ्रमपूर्ण दृष्टियों का मुख्य कारण उस मानवीय अहंकार को ही मानते हैं जो अपने और सृष्टि के मध्य किसी पारमार्थिक अथवा आध्यात्मिक नियामक सत्ता को नहीं स्वीकार करता। उनके अनुसार यह अहंकार सनातन– धर्म– विरुद्ध – दृष्टि का ही नामान्तर है। यही इस युग के विप्लव, संभ्रम आदि का प्रधान कारण है। यही कारण है कि वर्तमान युग में हम जिस विज्ञान– आधारित– उपलब्धि को विकास कह रहे हैं, वही दूसरी ओर हमारे विप्लव, संकट और विनाश का कारण बन रहा है। आधुनिक मनुष्य अपने संभ्रम के कारण यह सोच ही नहीं पा रहा है कि वह मनुष्य की किस विभूति का विकास कर रहा

है और यदि भौतिक विकास कर रहा है तो उसका अन्तिम लक्ष्य, उसकी सीमा और उसका मूल्य क्या है?

विडम्बना यह है कि तमाम राजनीतिक दावों–प्रतिदावों के बावजूद पं. नेहरू से लेकर नरेन्द्र मोदी तक हम इसी दुविधा और असमंजस के संकट से जूझ रहे हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि अपने तरीके से एक सम्यक् जीवन जीने की हमारी चाह, सामर्थ्य और आत्मविश्वास सब चुक गया है, और इसीलिए, कोविड–काल के इस श्मशान–ज्ञान से निकलकर पुनः हम अपनी पुरानी राह पर आ चुके हैं– जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पै आवै!

कोविड–संकट को घनीभूत और इसके प्रभाव को व्यापक बनाने में उस आधुनिक विश्वदृष्टि की प्रमुख भूमिका रही, जिसकी अन्तर्विसंगतियों को महात्मा गांधी ने 1909 में ही पहचान लिया था। भारत और विश्व के इतिहास में गांधी जी एक ऐसे विलक्षण महापुरुष हुए हैं, जिनमें आधुनिक जीवन की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विसंगतियों को पहचानने की न केवल अद्भुत अन्तर्दृष्टि थी, वरन् उसे कह सकने का अप्रतिम साहस और परिणामस्वरूप एक वैकल्पिक जीवन जीने की विलक्षण जीजीविषा भी उनके अन्दर विद्यमान थी। उनका हिन्द–स्वराज इसी पहचानने, कहने और जीने का कालजयी दस्तावेज़ है। गांधी के बाद आनन्द कुमारस्वामी, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य,श्रीअरविन्द, बद्रीशाह ठुलघरिया और पण्डित दीनदयाल उपाध्याय इसी विचार–दृष्टि के समर्थक हुए। इन सभी विचारकों की यह मान्यता रही कि भारत की सभ्यता एक आत्मबोधमूलक सभ्यता है, जिसके अनुरूप उसका एक सुविचारित तत्त्वशास्त्र और दर्शन है; ऋत् और धर्म पर धारित एक सामाजिक अधिष्ठान है; इस अधिष्ठान का पोषण करने के लिए एक कला–कौशल–युक्त समृद्ध अर्थ–रचना है, संस्कृति है। इस संस्कृति का परिरक्षण करने के लिए एक सुविचारित राज–विद्या और इसका उन्मीलन करने के लिए एक गुरु–शिष्य–परम्परायुक्त अक्षय ज्ञान–निधि है। स्वाभाविक ही, तत्त्वशास्त्र से लेकर ज्ञान–निधि अथवा शिक्षा तक की ये व्यवस्थाएँ एक साथ प्रतिष्ठित हैं। प्रोफेसर ए.के. सरन के शब्दों में, भारतीय जीवन–विधान ईश्वर–मनुष्य और प्रकृति के मध्य एक सामंजस्ययुक्त सन्तुलन की साधना है। आधुनिकता इस प्रवाह को खण्डित करती है। यह विद्या और विज्ञान के मध्य एक टकराव को जन्म देती है। आधुनिकता के

रूप में इस टकराव के कारण को न समझने के कारण ही हम कभी अपनी परम्परागत विद्याओं को व्यावसायिक बनाने की चेष्टा करते हैं, तो कभी वैज्ञानिक विषयों को मानवीय बनाने पर जोर देते हैं। इसी उपक्रम को साधने के लिए हम बार–बार अपनी शिक्षा–नीति पर भी पुनर्विचार करते हैं। ऐसा करते समय हम यह भूल जाते हैं कि किसी राष्ट्र में बार–बार शिक्षा–नीति का प्रश्न उठना कोई शुभ संकेत नहीं है, वरन् यह राष्ट्र के बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक संकट का द्योतक है।

जिस आत्मबोधमय दृष्टि की चर्चा पहले की गई है, उसे व्यक्त, धारित, संपोषित और परिरक्षित करने वाले सभी प्रत्ययों के मध्य एक सांगोपांग और सर्वांगपूर्ण अंगांगी भाव विद्यमान है। इसलिए आत्मबोधमय जीवन का केन्द्रीय उद्येश्य, तत्सम्बन्धी तत्त्वशास्त्र, दर्शन, ऋत्, धर्म, संस्कृति, सभ्यता, समाज, अर्थ, राजनीति और शिक्षा– सभी परस्पर निबद्ध हैं। यद्यपि नई शिक्षा–नीति को समावेशी, बहुलतावादी और समानतामूलक बनाने का ध्येय रखा गया है तथापि इन सन्दर्भ–रहित प्रत्ययों के भारतीय सन्दर्भ को समझे बिना इनका पारायण करने का कोई औचित्य नहीं है। इन प्रत्ययों का सम्यक् सन्दर्भ हमें परम्परागत भारतीय समाज–रचना में दिखाई देता है।

इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि सनातन भारतीय ज्ञान–परम्परा को अभिव्यक्त करने वाले तत्त्वों तथा उन्हें धारित और पोषित करने वाले चारित्रिक मूल्यों की वर्तमान शिक्षा–दृष्टि के साथ कोई संगति नहीं बन सकती। इसी तरह, इन तत्त्वों और मूल्यों का संविधान और लोकतन्त्र की वर्तमान व्यवस्था के साथ भी कोई संगतिपूर्ण ताल–मेल बिठा पाना असम्भव है। अपनी पुस्तक *Hinduism in Contemporary India* में प्रोफेसर सरन एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन करते हैं। उनका मानना है कि एक सम्यक् और सर्वांगपूर्ण हिन्दू (परम्परागत/भारतीय) जीवन एक हिन्दू (परम्परागत/भारतीय) समाज के अन्दर ही सम्भव है। हिन्दू धर्म–परम्परा के अन्तर्गत बाह्य और आन्तरिक, निजी और सार्वजनिक, तथा व्यक्तिगत और सामाजिक स्तर पर जीवन की अखण्डता और एकता के निर्भ्रान्त महत्त्व को रेखांकित करते हुए प्रोफेसर सरन कहते हैं कि–

Hinduism and Hindu Society are inseparable: It follows that to undermine one is to destroy both.

भारतीय राजनीतिक चिन्तन की इसी पृष्ठभूमि में हमें संविधान के भारतीय स्वरूप को भी समझ लेना चाहिए। संविधान से हमारा तात्पर्य उस विधान से होना चाहिए जो हमारे परमपुरुषार्थ को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त बल व वेग उत्पन्न कर सके। नई शिक्षा–नीति में संवैधानिक मूल्यों की स्वीकृति सुनिश्चित और विस्तारित करने की भी बात की गई है। किन्तु, संविधान की सनातन और भारतीय मान्यता के सन्दर्भ में देखा जाए तो इसकी प्रस्तावना में अनेक आधुनिक, इहलोकवादी और सन्दर्भहीन मूल्य–मान्यताओं का ही उल्लेख किया गया है। यही कारण है कि देश में जहाँ एक ओर श्रेष्ठ नागरिक और श्रेष्ठ मनुष्य की मान्यताओं के मध्य गंभीर अन्तर्द्वन्द्व दिखायी देता है, वहीं राज्य और नागरिकों के मध्य कोई सहज–स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं स्थिर हो पाता। राज्य में सदैव बहुस्तरीय और बहुआयामी प्रतिद्वन्द्विता का वातावरण बना रहता है, तथा न तो नागरिकों की राज्य के प्रति अविचल निष्ठा विकसित हो पाती है, और न ही राज्य नागरिकों को उनके सम्यक् योग–क्षेम को वहन करने का विश्वास ही दिला पाता है। राज्य और नागरिकों के बीच एक बेगानेपन और अविश्वास का सम्बन्ध ही बना रहता है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि सम्पूर्ण भारतीय जीवन–विधान में तात्त्विक एक–सूत्रता, इस एकता से उद्भूत अनेकता और धर्म के विधान से आच्छादित ईश्वर–मनुष्य और प्रकृति की सोपानवत् व्यवस्था विद्यमान है। इसी सांगोपांगता के कारण भारतीय जीवन–विधान के अन्तर्गत सम्यक् स्थिति में तत्त्व, अध्यात्म, धर्म, समाज, राजनीति, अर्थ– सभी या तो साथ–साथ प्रतिष्ठित होते हैं, या विपर्यय के उत्पन्न होने पर साथ–साथ ही अप्रतिष्ठित होते हैं। यही कारण है कि धर्म के अभाव में नैतिकता, प्रेम, सौहार्द्र, संवेदनशीलता और मानवीय मूल्य जैसी मान्यताएँ, खोखली रह जाती हैं। धर्म की परिधि में ही इन मूल्य–मान्यताओं की पुष्टि होती है, और धर्म ही जीवन में इनका वाहक बनता है। यही कारण है कि धर्म से रहित उपदेशों और प्रेरणाओं का हमारे जीवन पर कोई निर्णायक और स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता।

अन्ततः, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है कि अपने मान–बिन्दुओं के प्रति दरके हुए आत्मविश्वास को पुनः सृजित करने का यत्न

किया जाए। अपने इतिहास, अपनी जातीय स्मृति, अपनी लोक–मान्यताओं को भूलकर केवल एक उपभोक्ता–समाज बनने की आकांक्षा कोई ऊँची आकांक्षा नहीं है। हमें उससे आगे देखना आना चाहिए। भारतीय सभ्यता अहिंसक स्त्यान्वेषी होने की जीवन साधना, मांगल्य और जय को ध्येय बनाकर खड़ी हुई है। हमें अपने इतिहास को एक अत्यन्त उन्नत भारतीय सभ्यता के उत्तराधिकारी के सहज अभिमान से देखना चाहिए, क्योंकि उसी से हमें अपनी सभ्यता से भटके हुए मार्ग से वापस अपने मार्ग पर लौटने की दृष्टि मिल सकती है।

कुमारस्वामी फाउण्डेशन
लखनऊ

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी :

1. शतपथ ब्राह्मण
2. विष्णु पुराण
3. भवभूति : *उत्तर रामचरितम्*
4. रघुवीर सिंह : *पर्यावरण एवं विकास*, भारतीय लोक प्रशासन संस्थान, नई दिल्ली, 1999
5. विद्यानिवास मिश्र : *हिन्दू धर्मः जीवन में सनातन की खोज*, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 2016
6. विद्यानिवास मिश्र : *क्या पूरब क्या पश्चिम!*, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
7. रेने गेनों : 'विद्या और विज्ञान', *कल्याण*, हिन्दू संस्कृति अंक, गीताप्रेस, गोरखपुर, वर्ष 24
8. अम्बिकादत्त शर्मा : *भारतीयता के सामासिक अर्थ–संदर्भ*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2015
9. A.K. Coomaraswamy: *Art and Swadeshi*, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 1994.
10. A.K. Coomaraswamy: *East and West and Other Essays*, Ola Books Ltd., Colombo, 1940.

11. A.K. Coomaraswamy: *Essays in National Idealism*, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 1981 (originally published in 1909).
12. A.K. Saran: *Hinduism in Contemporary India*, Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, Varanasi, 2007.
13. E.F. Schumacher: *Small is Beautiful*, Vintage, London, 1993.
14. J.H. Randall, Jr. : *The Making of the Modern Mind*, Houghton Mifflin Company, Cambridge, 1954.
15. Raghuveer Singh : 'Some Thoughts on Higher Education in India', *Tattva-Sindhu*, Coomaraswamy Foundation, Lucknow, 2021.
16. René Guénon: *Studies in Hinduism*, Navrang, New Delhi, 1985.
17. S.H. Nasr: *Man and Nature*, Allen & Unwin, London, 1976.
18. T.S. Eliot: *The Idea of a Christian Society*, Faber and Faber Limited, London, 1939.

प्रोफेसर टी.आर.वी. मूर्ति : अद्वय और अद्वैतवादी तत्त्वमीमांसा के विश्वतोमुख प्रतिष्ठापक

संजय कुमार शुक्ल

आचार्य टी.आर.वी. मूर्ति (1902–86) भारतीय दर्शन के निष्णात विद्वान् थे किन्तु इसके साथ ही पाश्चात्य दार्शनिक परंपरा की भी उनमें विलक्षण समझ थी। उनके अकादमिक व्यक्तित्व को दर्शनशास्त्र के तीन ख्यातिलब्ध विभुतियों ने गंभीररूपेण प्रभावित किया–सर्वपल्ली राधाकृष्णन, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य एवं श्री अरविन्द। वे हिन्दु शास्त्रों के मनोवैज्ञानिक व्याख्या के संदर्भ में श्री अरविन्द के 'दी सीक्रेट ऑफ वेद' से प्रभावित रहे हैं। राधाकृष्णन के दार्शनिक विमर्श (अनुचिंतन) एवं आध्यात्मिक अनुभूति में सामंजस्य के प्रयास का वे समर्थन करते हैं, और इसके अतिरिक्त उन्हें राधाकृष्णन द्वारा प्रतिपादित चेतना एवं स्वतंत्रता के रूप में निरपेक्ष (सत्) का विचार मान्य है। राधाकृष्णन शंकराचार्य की भांति यह स्वीकार करते हैं कि मायारूपी जगत् न तो सत् है और न ही असत् है अपितु अनिर्वचनीय है। मूर्ति की भी दृष्टि इसके अनुरूप ही है – माया से बचना (मुक्ति)। वस्तुतः जगत् के प्रति विकृत अवबोध अथवा बंधन से मुक्ति का अर्थ जगत् का निषेध नहीं है। राधाकृष्णन ने आध्यात्मिक अनुभूति के नैतिक एवं ज्ञानमीमांसीय पक्ष को उद्घाटित किया है। इन दोनों दार्शनिकों का यह मानना है कि ब्रह्म साक्षात् अनुभूति का विषय है और श्रुति की भूमिका उसे इंगित करने की है। मूर्ति का यह विचार उपयुक्त है कि श्रुति की आवश्यकता (उपादेयता) ब्रह्म के लिए है किन्तु जब उसकी अपरोक्षानुभूति हो जाती है तो ''श्रुति की सीढ़ी'' अनावश्यक हो जाती है जिसका त्याग किया जा सकता है। यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि राधाकृष्णन ने जहाँ उन्हें बौद्ध दर्शन की ओर ले जाते हैं वहीं के.सी. भट्टाचार्य उन्हें अद्वैत वेदान्त की दिशा में प्रेरित करते हैं। भट्टाचार्य नव्य–वेदान्त के मौलिक

ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

प्रतिपादक हैं और जिसका वैशिष्ट्य यह है कि वह ब्रह्म के सत्–चित्–आनन्द की व्याख्या से संतुष्ट नहीं होते हैं। वे ब्रह्म को सर्वप्रथम अनिर्धारित (अनिश्चित) तत्पश्चात् विषयी और अंत में विकल्पन के रूप में प्रस्तुत करते हैं। निरपेक्ष के वैकल्पिक आकार के विचार से मूर्ति अत्यधिक प्रभावित थे, यद्यपि वे उसे नवीन ढंग से प्रस्तावित करते हैं। भट्टाचार्य निरपेक्ष में सत्य, स्वतंत्रता एवं मूल्य को आंतरिक विभेद मानते हैं जो कि उसका वैकल्पिक आकार है और वह –ज्ञानात्मक, संकल्पात्मक एवं भावनात्मक –मानसिक क्रियाओं के अनुरूप (संवादी) है। राधाकृष्णन के प्रभाव में मूर्ति बौद्ध दर्शन की ओर आकृष्ट होते हैं, यद्यपि वे राधाकृष्णन के बौद्ध दर्शन की व्याख्या का खण्डन करते हैं। इस खण्डन की प्रक्रिया में वे बौद्ध ग्रंथों की गहरी समझ विकसित करते हैं जिसका प्रतिफल 'दी सेन्ट्रल फिलासफी ऑफ बुद्धिज्म' है। आपकी बौद्ध दर्शन की अभिनव दृष्टि का समावेश अद्वैत वेदान्त की वैयक्तिक प्रतिबद्धता में दृष्टिगोचर होता है, जो कि भट्टाचार्य के प्रभाव को रेखांकित करता है। अंततः यह कहने में लेशमात्र संकोच नहीं कि मूर्ति इस दार्शनिक प्रक्रिया में भट्टाचार्य के विचारों को एक नया आयाम एवं विस्तार प्रदान करते हैं।

मूर्ति की नियुक्ति प्रवक्ता के रूप में दर्शनशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय (1986) में हुई और कालान्तर में श्रीलंका विश्वविद्यालय में प्रथम दर्शनशास्त्र के आचार्य (1949) के रूप में नियुक्त हुए। उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में स्थापित ख्यातिलब्ध सियाजी गायकवाड़ पीठ – प्रोफेसर ऑफ इन्डियन सिविलाइजेशन एण्ड कल्चर – को राधाकृष्णनन (1953) के पश्चात् सुशोभित किया। मूर्ति ने अनेक अतिथि नियुक्तियों पर कार्य किया– हेब्रु विश्वविद्यालय, जेरूसलम में प्रवक्ता (1958), दर्शनशास्त्र में प्रोफेसर, स्टैनफोर्ड एवं याले विश्वविद्यालय (1960–61), वर्ल्ड रिलिजन्स में प्रोफेसर, सेन्टर फॉर दी स्टडी ऑफ वर्ल्ड रिलिजन्स, हारवर्ड विश्वविद्यालय (1963), विजिटिंग प्रोफेसर–ब्रोक एवं मैकमास्टर विश्वविद्यालय, कनाडा (1968), विजिटिंग प्रोफेसर, मैकमास्टर हैमिल्टन एवं आनटेरियो विश्वविद्यालय (1969–72)। अंतर्राष्ट्रीय ख्याति एवं विद्वता का सम्मान करते हुये संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (1962) में उनकी कुलपति पद पर नियुक्ति हुई। मूर्ति ने अपने सृजनात्मक एवं सार्थक लेखन से दर्शनशास्त्र को समृद्ध किया। उनकी मानक कृतियों में

'अज्ञान'–जी.आर. मलकानी एवं रास बिहारी दास के साथ सह–लेखन, 'दी सेन्ट्रल फिलासफी ऑफ बुद्धिज्म', 'स्टडीज इन इन्डियन थॉट' : दी कलेक्टेड पेपर्स आफ प्रोफेसर टी.आर.वी. मूर्ति'– संपादित हैराल्ड कॉवर्ड, 'दी कन्सेप्ट ऑफ फिलासफी' (संपादित) को रखा जा सकता है। उन्होंने मर्विन स्प्रंग एवं यू.एस. व्यास के साथ संस्कृत से अंग्रेजी अनुवाद 'लॉजिकल एक्सपोजिशन ऑफ दी मिडिल वे : दी एसेनशियल चैप्टर्स फ्राम दी प्रसन्नपदा ऑफ चन्द्रकीर्ति' नामक शीर्षक से किया है। उच्च अकादमिक प्रतिष्ठा एवं वैविध्यपूर्ण दार्शनिक लेखन उनकी विद्वता का परिचायक है। प्रारंभ में मूर्ति की अभिरुचि माध्यमिक बौद्ध दर्शन में थी किन्तु कालान्तर में अद्वैत वेदान्त एवं भाषा के दर्शन की ओर वे आकृष्ट हुए।

I

मूर्ति के दार्शनिक अध्यवसाय को एक लेख में रेखांकित करना यदि असंभव नहीं तो भी अत्यन्त ही दुरूह कार्य है। अतः विस्तारभयात् हम स्वयं को उनके तीन सार्थक गांभीर्यपूर्ण आलेख तक ही सीमित रखेंगे, और वे निम्नवत है–''दी फिलासफी ऑफ स्प्रिट'', ''अद्वैत वेदान्त एण्ड बुद्धिज्म'' एवं ''दी फिलासफी ऑफ लैंग्वेज''। ''दी फिलासफी ऑफ स्प्रिट'' को सामान्यतः मूर्ति का दर्शन माना जाता है, और यहाँ वे निरूपित करते हैं कि दर्शन न तो परिकल्पनात्मक विलास और न ही सैद्धान्तिक जिज्ञासा की संतुष्टि है। आत्म–साक्षात्कार समस्त मूल्यों की सिद्धि है –सत्य, स्वतंत्रता एवं आनन्द। वे स्पष्टीकरण देते हैं कि उनका दृष्टिकोण फिनोमिनोलॉजकीय होकर भी अस्तित्वात्मक है और जिसका निहितार्थ है कि दर्शन को जीवन में जीना चाहिए न कि उसे मात्र विचार माना जाए। दर्शनशास्त्र आत्मा की खोज (अध्यात्म–विद्या) है। आध्यात्मिक वंश (जीनस) जिसकी दार्शनिक एवं धार्मिक चेतना प्रजाति (इसपिशीज) है।[1] आध्यात्मिक जागरण के अंतर्गत व्यक्ति स्वयं के कष्ट, कुंठा एवं हताशा आदि मनोभावों के प्रति सचेष्ट होता है और जिसकी परिणति साधारण (लौकिक) मूल्यों का त्याज्य होना एवं शाश्वत मूल्यों का अनुसंधान है। आध्यात्मिक व्यक्ति में बाह्य एवं आंतरिक का पार्थक्य तिरोहित हो जाता है, स्व एवं पर का विभेद समाप्त होता है, और जिसका लक्ष्य बोधिसत्व है – महाकरुणा की अभिव्यक्ति है। उच्चतर चेतना अथवा आत्म–सिद्धि में कला एवं संस्कृति की महती भूमिका है। भौतिकवादी जीवन–दृष्टि हमारी स्वार्थपरता, वासना, लोभादि का संवर्धन करती है, तो

वहीं सांस्कृतिक अभिरूचियाँ –संगीत, चित्रकला, साहित्य इत्यादि – हमें भौतिकवाद से ऊपर उठने के लिए प्रेरित करती हैं, और यहाँ हम आनन्द एवं सौन्दर्य की सार्वभौम अनुभूति प्राप्त करते हैं। अतः कला एवं संस्कृति आत्मानुसंधान और दार्शनिक चेतना की जागृति के अनिवार्य प्रथम चरण हैं। अध्यास का अनुभव भी आध्यात्मिक जागरण में सहायक है। आनुभविक भ्रम के अंतर्गत जिसे हम यथार्थ समझते हैं वह मिथ्यात्व में परिणत हो जाता है, और यह संवेदनशील व्यक्ति को विमर्शात्मक होने के लिए प्रेरित करता है कि क्यों भ्रम उत्पन्न होता है एवं इसकी क्या निष्पत्ति है। मूर्ति के अनुसार सत् एवं जगत् की मूल्यवत्ता के प्रति हमारे रूढ़िवादी विश्वास से असंबद्धता अथवा निलंबन दार्शनिक चेतना का प्रस्फुटीकरण हैं।[2] अतः दर्शनशास्त्र ''आत्मा'', ''सत्'' अथवा ''निरपेक्ष'' एवं ''आभास'' अथवा ''मिथ्या'' में मूलभूत विभेद एवं इसके अतिरिक्त कष्ट, हताशा एवं भ्रम के अनुभव को अवबोध के धरातल पर करता है। मूर्ति प्रारंभ से दर्शनशास्त्र में स्वीकृत सत् के आकारिक निकष (लक्षण) – अबाधित्व – का परीक्षण करते हैं, और उनकी समीक्षात्मक दृष्टि में इस निकष को स्वीकार करने का कोई औचित्य प्रस्तुत नहीं किया गया है। वे सभी प्रकार के आकारिक निकषों को कृत्रिम स्वीकार करते हुए उनका खण्डन करते हैं क्योंकि वे अनुभव के सहज (प्राकृतिक) उद्विकास से उद्भूत नहीं हुए हैं। दर्शनशास्त्र के प्रति हमारा दृष्टिकोण मात्र आकारिक (तार्किक) न होकर उसे अनुभव में मूलित होना चाहिए। सत् का अवबोध तब संभव है जब हम उसके विकार रूपी आवरण को अलग करते हैं, अर्थात् आभासरूपेण बाह्य कोश का भेदन करते हैं, तत्पश्चात् हमें सत् की अंतर्दृष्टि प्राप्त होती है। विभिन्न दार्शनिक संप्रदाय अपने ढंग से अवबोध की प्रक्रिया प्रस्तावित करते हैं। माध्यमिक दर्शन में द्वन्द्वात्मक पद्धति प्रयुक्त हुई है, तो वहीं अद्वैत वेदान्त निरपेक्ष (सत्) के लिए श्रुति के महत्त्व को स्वीकार करता है। अतः विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों में संघर्ष अथवा अंतर्विरोध प्रकट होता है। यदि एक संप्रदाय सत् के एक स्वरूप अथवा प्रारूप को स्वीकार करता है तो वहीं दूसरा संप्रदाय सत् की नितान्त भिन्न अवधारणा प्रस्तुत कर सकता है। अतः रूढ़िवादी तत्त्वमीमांसा पर आधारित व्याख्याओं को मूर्ति अतीन्द्रिय भ्रम की संज्ञा देते हैं। समीक्षा इस भ्रम का अवबोध है जो कि सभी दार्शनिक संप्रदाय अथवा तंत्र में अंतर्निहित दोषों को प्रदर्शित करती है। समस्त दृष्टियों का निषेध अथवा

समीक्षा सत् अथवा आत्मा के प्रातिभ ज्ञान में पर्यवसित होती है जिसे प्रज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।

मूर्ति की दृष्टि में अद्वैत वेदान्त का दृष्टिकोण धर्मशास्त्रीय है क्योंकि वह 'श्रुति–केन्द्रित' है। श्रुति यद्यपि आत्म–ज्ञान की हमें सही दिशा दिखाती है किन्तु, आत्म–सिद्धि अन्तःप्रज्ञात्मक अनुभूति का विषय है, और यहाँ दार्शनिक विश्लेषण की महत्त्वपूर्ण भूमिका सुस्पष्ट है। माध्यमिक एवं अद्वैत वेदान्त के दृष्टिकोणों में भेद है, किन्तु क्या इसका यह अर्थ है कि प्रत्येक दार्शनिक तंत्र अंततः एक तत्त्वमीमांसीय चिदणु हैं और दूसरे दर्शन के साथ तारतम्यहीन हैं ? मूर्ति ने तारतम्यहीनता एवं चिदुणता का खण्डन किया है, और उनकी यह मान्यता है कि विभिन्न दार्शनिक तंत्र में भी कुछ समान आधार होते हैं। माध्यमिक एवं अद्वैत वेदान्त में आत्म तत्त्व को सत् के रूप में स्वीकार किया गया है जिसकी अंतःप्रज्ञात्मक अनुभूति संभव है और यहाँ हम जीवन के साधारण अनुभवों का अतिक्रमण करते हैं। दार्शनिक चेतना के विश्लेषण से आत्मा का स्वरूप उद्घाटित होता है। यह विषयी की चेतना का विषय के प्रति अभिवृत्ति के परीक्षण की अपेक्षा रखता है। मूर्ति तीन प्रकार की अभिवृत्तियों को रेखांकित करते हैं :

1. ध्यान अथवा अवधान का निर्धारण अंतर्वस्तु से होता है – ध्यान विषय में लुप्त हो जाता है।
2. चेतना अंतर्वस्तु को निर्धारित करती है।
3. निर्धारण उपरोक्त में से कोई भी हो सकता है, पारस्परिक।

यह तीनों आत्म तत्त्व के क्रमशः 'संज्ञानात्मक', 'संकल्पात्मक' एवं 'भावनात्मक' पक्ष से संबद्ध हैं। 'सत्य' को जानने में हमारी अभिवृत्ति प्रदत्त के अनुसंधान की होती है। प्रदत्त को सदैव वैचारिक कोटियों (वर्गनाओं) की मध्यस्थता के बिना जाना जाता है, अर्थात् आत्मनिष्ठता का कोई अंश नहीं होता है। आत्मा के संकल्पात्मक कार्यविधि में संकल्पित अंतर्वस्तु पूर्णतया संकल्प की क्रिया का परिणाम है –नैतिक प्रयास अथवा चेतन कल्पना। आत्मतत्त्व के भावनात्मक पक्ष में अंतर्वस्तु एवं चेतना, विषय एवं विषयी से अपृथक् समष्टि (अंगी) की निर्मिति होती है, और इसे हम भौतिक सुख, सौन्दर्यविषयक अनुभूति और आध्यात्मिक स्तर पर आनन्द में पाते हैं। मूर्ति सत्, क्रिया (स्वतंत्रता) एवं आनन्द को न तो ब्रह्म का स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं और न ही वे एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। यह निरपेक्ष (सत्) के बहुत्व का

द्योतक नहीं है क्योंकि इसमें कोई संप्रत्ययात्मक भेद नहीं, अपितु एक ही सत्ता को वे विभिन्न ढंग से निर्देशित करते हैं। यहाँ पर मूर्ति भट्टाचार्य के विचार से अत्यधिक प्रभावित हैं। भट्टाचार्य सर्वप्रथम चेतना के त्रिविध कार्यों की पहचान करते हैं और जिन्हें वे निरपेक्ष के तीन वैकल्पिक आकारों – निरपेक्ष संज्ञान, निरपेक्ष संकल्प एवं निरपेक्ष भावज्ञ – के रूप में प्रस्तुत करते हैं।[3] वे इन्हें क्रमशः सत्य, स्वतंत्रता एवं मूल्य से संबद्ध करते हैं। मूर्ति की दृष्टि में माध्यमिक एवं अद्वैत वेदान्त दर्शन साधन हैं जिनके माध्यम से स्वार्थपरता एवं भौतिकतावाद का अतिक्रमण आध्यात्मिक आधार पर संभव होता है। विश्व संस्कृति की आधारशिला आध्यात्मवाद है जिसकी निर्मिति में दोनों दार्शनिक संप्रदायों की महती भूमिका है, यद्यपि वे माध्यमिक दर्शन को अधिक प्रासंगिक एवं उपयोगी स्वीकार करते हैं। अद्वैत वेदान्त का दृष्टिकोण पारंपरिक है जो कि वेदों की प्रामाणिकता से संबद्ध है और वह एक विशिष्ट परिवेश को पूर्वकल्पित करता है जिसके अंतर्गत ही वह फलित हो सकता है।[4] माध्यमिक दर्शन उदारवादी है जिसमें विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों एवं समाजों को समाहित करने का सामर्थ्य है। अतः इस कारण से बौद्ध प्रतिदर्श संसार के प्रति अधिक व्यावहारिक एवं आशावादी समाधान प्रस्तुत करते हैं। ''दी फिलासफी ऑफ स्प्रिट'' सैद्धान्तिक जिज्ञासा की संतुष्टि के लिए नहीं है, अपितु वह विश्व संस्कृति का आधार निर्मित करती है। इसका सार–तत्त्व समस्त अहंकार के पूर्ण निषेध एवं सभी मनुष्यों में एकत्व की अनुभूति में निहित है। आत्म–तत्त्व की निरपेक्षता से अस्तित्व की मूलभूत एकता संभव होती है और साथ ही विश्व के सांस्कृतिक समूहों में जो विभिन्नतायें हैं वह भी संरक्षित एवं संवर्धित रहती हैं। आत्म–अतिक्रमण का अर्थ सभी व्यावहारिक दृष्टिकोण से स्वतंत्रता एवं सार्वभौमिकता है। आत्म–अनुभूति के विभिन्न मार्ग सार्वभौमिकता के साथ पर्याप्त सुसंगत हैं।[5]

II

''अद्वैत वेदान्त एण्ड बुद्धिज्म'' मूर्ति का एक अन्य विचारोत्तेजक और अपने में गम्भीर दार्शनिक अन्तर्दृष्टि को समाहित किया हुआ लेखन है। गौड़पाद एवं शंकर द्वारा वेदान्त के विकास में दो प्रकार के प्रभाव सुस्पष्ट हैः

1. उपनिषद की व्याख्या में पूर्व के वेदान्त दर्शन की आत्म–सुसंगति निरूपित करना है।
2. द्वन्द्वात्मक विधि के तकनीक को जिसे, माध्यमिक संप्रदाय पहले से ही

कुशलतापूर्वक प्रयुक्त कर रहा था, अद्वैत वेदान्त द्वारा अंगीकार किया जाना। मूर्ति की अद्वैत वेदान्ती समझ (अवबोध) में उनका विशिष्ट योगदान बौद्ध दर्शन के साथ संवाद में निहित है। सांख्य दर्शन में प्रत्ययवादी एवं यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ अव्यवस्थित रूप में परिलक्षित होती है। पुरुष शुद्ध चैतन्य है जबकि प्रकृति जड़ है और इस प्रकार दोनों की ही स्वतंत्र सत्तायें हैं। अद्वैत वेदान्त में सांख्य के द्वैतवाद का समाहार पुरुष की पुनर्व्याख्या ब्रह्म/आत्मा के रूप में गौड़पाद एवं शंकर करते हैं। यह आभास (मिथ्या) के सिद्धान्त पर अवलबित है जो कि बौद्ध दर्शन के प्रभाव का द्योतक है। बौद्ध दर्शन में इसके विपरीत दिशा में सांख्य के द्वैतवाद का समाधान प्रस्तुत किया गया है। आभिधार्मिकों का धर्म का सिद्धान्त सांख्य की प्रकृति का बौद्ध संस्करण है और पुरुष को आभास के रूप में कल्पित किया गया है। आभिधार्मिकों के धर्म सिद्धान्त की अपर्याप्तता ने माध्यमिक द्वन्दन्याय के मार्ग को प्रशस्त किया जो कि गौड़पाद एवं शंकर को अद्वैत वेदान्त के व्यवस्थित प्रतिपादन के लिए उत्प्रेरित करता है।

इसी तरह ''अज्ञान'' अत्यन्त ही विलक्षण एवं रोचक अद्वैतवादी दार्शनिक लेखन है जिसमें टी.आर.वी. मूर्ति, जी.आर. मलकानी एवं आर.वी. दास सह–लेखक हैं। मूर्ति की दृष्टि में मिथ्या सत् पर असत् का अध्यारोपण है और वे अद्वैत वेदान्त के दो मिथ्या उदाहरणों –''रज्जु–सर्प'' एवं ''शुक्ति–रजक''– का विश्लेषण करते हुए प्रतिपादित करते हैं कि मिथ्या का कारण अज्ञान है। अतः अज्ञान (सर्प) तिरोहित हो जाता है जब हमें यथार्थ (रज्जु) का अनुभव होता है। सर्प की प्रस्थिति न तो सत् है और न ही असत् है अपितु अनिर्वचनीय है। आप रज्जु–सर्प के उदाहरण से आगे बढ़कर लौकिक अनुभव के संदर्भ में यह स्वीकार करते हैं कि जगत् (प्रपंच) मूल–अज्ञान का पर्याय (विकार) है जो की स्वरूपतः अध्यास है – असत् का सत् के साथ एकीकरण है। मूर्ति स्पष्ट करते हैं कि यद्यपि ब्रह्म/आत्मा की अवस्थायें नहीं होती हैं तथापि अद्वैत वेदान्त में आत्मा की चार अवस्थायें – जाग्रत, स्वपन, सुषुप्ति एवं तुरीय स्वीकार की गई हैं। वेदान्त का यह सुझाव है कि सुषुप्ति की अवस्था मोक्ष के अत्यन्त निकट है जिसमें मात्र ब्रह्म/आत्मा का ही अस्तित्व है। मूर्ति के अनुसार सुषुप्ति की अवस्था में आत्मा विशुद्ध एवं विषयों के सन्निकर्ष से दूषित नहीं होती है। यह ब्रह्म की अवस्था अथवा मोक्ष से इस दृष्टि में भिन्न है कि यह जाग्रतादि अवस्थाओं से

आकस्मिक रूप में प्रतिफलित होती है।[6] मेरी प्रगाढ़ निद्रा की अनुभूति वस्तुतः सुषुप्ति की अवस्था में कुछ भी न जानने की निषेधात्मक प्रतिपत्ती है जिसे मूल अज्ञान के साक्ष्य के रूप में ग्रहण किया जा सकता है और यह अज्ञान जगत्–भ्रम का कारण है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार सुषुप्ति शून्यता की स्थिति नहीं है, यहाँ आत्मा के अस्तित्व के लिए ही नहीं अपितु, भावात्मक विषयों के अस्तित्व का भी साक्ष्य है, यद्यपि वे अनिर्धारित एवं अविभेदित हैं जो कि जाग्रत अवस्था में अहं के भाव को उत्पन्न करते हैं। ब्रह्म/आत्मा एवं साक्षी की अनुभूति तार्किक दृष्टि से अहं के पूर्ववर्ती हैं। तुरीय को – चतुर्थ उच्चतम अवस्था – जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति के पश्चात् स्वीकार किया जाता है, यद्यपि यह आत्मा की अवस्था नहीं है अपितु यह स्वयं में आत्मा/ब्रह है। अहं के कार्य हेतु साथी की अनिवार्यता है यद्यपि इसका विपरीत सत्य नहीं है। मूर्ति वस्तुनिष्ठता के आभास के लिए सार्थक ढंग से काण्ट के ज्ञानमीमांसा में प्रागनुभविक को संदर्भित करते हैं और तर्कशास्त्र एवं विज्ञान की भूमिका का विवेचन करते हैं। विषय एवं ज्ञान के संबद्ध का विश्लेषण करते हुए वे प्रतिपादित करते हैं कि विषय ज्ञान को अंतर्वस्तु प्रदान करते हुए निर्धारित करता है – कोई भी ज्ञान अंतर्वस्तु के बिना संभव नहीं है और कोई भी अंतर्वस्तु ऐसी नहीं जो कि ज्ञात न हो। अतः विषय एवं ज्ञान में निर्भरता पारस्परिक है। अद्वैत वेदान्त में हम एक–तरफा निर्भरता संबंध को पाते हैं। विषय (सर्प/जगत्) आभास (मिथ्या) है, किन्तु ''ज्ञातता'' अथवा अंतर्वस्तु–सर्प/जगत् की–विषय के रूप में निर्देशित है। यहाँ विषय (सर्प/जगत्) ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से सत् किन्तु तात्त्विक दृष्टि से असत् है। अंततः विषय विवर्त अथवा अनिर्वचनीय है; यह अज्ञान का उत्पाद है।[7] मूर्ति का यह कथन उपयुक्त है कि अज्ञान के विषय में जिज्ञासा वस्तुतः ज्ञान की प्रागनुभविक शर्तों का अनुसंधान है। अज्ञान (अविद्या) का आश्रय क्या है ? वाचस्पति मिश्र के अनुसार अविद्या का आश्रय जीव हैं तो वहीं अधिकांश अद्वैत वेदान्त के आचार्यों का यह मानना है कि अविद्या का आश्रय ब्रह्म है। अविद्या के निरास के संदर्भ में मूर्ति का मन्तव्य है कि यह यथार्थ ज्ञान से निरसित होती है – सर्प इसलिए निरस्त होता है कि हमें ज्ञात होता है कि वह तो रज्जु है। यह मात्र साक्षात् अनुभूति से ही संभव है, अन्यथा अद्वैत का जगत्–मिथ्यात्व संबंधित दावा – जो कि आत्मनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ अनुभव पर अवलम्बित है – आस्था का विषय बन जाएगा जिसे प्रमाण की

आवश्यकता है। विज्ञान एवं व्यावहारिक जीवन वस्तुनिष्ठता पर बल देता है, तो वहीं आध्यात्मिक मनन आत्मनिष्ठता में मूलित है। ब्रह्म के साथ तादात्म्य की अनुभूति समस्त विधेयता (निर्धारण) के निषेध से संभव है – यहाँ तक कि जो निषेध में प्रयुक्त हुआ है। मूर्ति के अनुसार यदि जगत् मिथ्यात्व का प्रारंभ ज्ञान एवं विषय, विचार और सत् के भेद से है, तो यह उचित होगा कि उससे निवृत्ति ज्ञानात्मक क्रिया से हो जो असत् विभेद को निरस्त करे।[8] अद्वैत वेदान्त में सर्वोत्कृष्ट मानवीय उपलब्धि स्वयं की ब्रह्म के साथ तादात्म्य की अनुभूति है। किन्तु यह विमर्शात्मक अथवा संप्रत्ययात्मक चिंतन के पूर्ण निषेध की अपेक्षा रखता है क्योंकि वह कोई बौद्धिक उपलब्धि नहीं, अर्थात् अंतर्वस्तु का अवबोध नहीं। यह विशिष्ट प्रकार का ज्ञान है जिसमें अंतर्वस्तु विरत अवबोध होता है। मूर्ति इसे ''परिचयात्मक ज्ञान'' की संज्ञा देते हैं जो कि ''विवरणात्मक ज्ञान'' के विपरीत है। यहाँ जानने का अर्थ ब्रह्म से एकाकार (तादात्म्य) है। वे अद्वैत वेदान्त के इस विचार का समर्थन करते हैं कि ब्रह्मानुभूति (मोक्ष) कर्म से नहीं अपितु, ज्ञान से ही संभव है।

III

अद्वैत वेदान्त के लिए महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय है कि ब्रह्म का ज्ञान कैसे संभव है – तर्क अथवा श्रुति द्वारा ? मूर्ति इस प्रश्न का उत्तर शंकर के बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य के आधार पर यह देते हैं कि यह ज्ञान तर्क के आधार पर संभव नहीं है और श्रुति ही इसकी प्राप्ति का एक मात्र साधन है। यहाँ तक कि नैतिक कर्तव्यों एवं कर्मकांड का ज्ञान भी तर्क से नहीं अपितु इसे भी श्रुति से ही जाना जाता है। ब्रह्म की अतीन्द्रिय सत्ता है जिसे ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति अथवा सादृश्यानुमान से नहीं जाना जा सकता है। मूर्ति प्रदर्शित करते हैं कि शंकर ब्रह्मसूत्र भाष्य में तर्क (बुद्धि) की सीमा का निर्धारण करते हैं। एक व्यक्ति द्वारा स्थापित मान्यता का खण्डन दूसरे के द्वारा अधिक सशक्त युक्ति (तर्क) द्वारा संभव है। अतः परिकल्पनात्मक दर्शन (चिंतन) कल्पना (उत्प्रेक्षा) पर आधारित है। नागार्जुन यह प्रदर्शित करते हैं कि परिकल्पनात्मक दर्शन स्वयं का व्याघात करता है और वह अपनी पूर्वमान्यताओं के साथ सुसंगत नहीं होता है। अतः वह सत् की अंतर्दृष्टि नहीं प्रदान कर सकता है। क्या श्रुति की भी अपनी सीमा है? मूर्ति की दृष्टि में मात्र अतीन्द्रिय के संदर्भ में श्रुति की प्रमाणिकता है। श्रुति का अर्थ यह नहीं है कि वेद में जो कुछ वर्णित है उन्हें स्वीकार किया जाए,

क्योंकि इसमें ऐसे कथन भी सम्मिलित हो सकते हैं जो कि आनुभविक परीक्षण से खण्डित हो जायें और वेदान्त इस प्रकार के कथनों को वैध एवं सत्य नहीं स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे कथन भी संभव हैं जिनकी व्याख्या प्राथमिक अथवा गौण अर्थ में हो। यहाँ तर्क का प्रयोग एवं व्याख्या के नियमों की आवश्यकता सही अर्थ के निर्धारण में है। श्रुति तर्क की विरोधी नहीं है अपितु उसका स्वागत करती हुई सहायता की अपेक्षा रखती है। मीमांसा द्वारा विकसित व्यवस्थित व्याख्या के नियमों का यही औचित्य है। मूर्ति के अनुसार श्रवण के पश्चात् मनन एवं विचार की प्रक्रिया प्रारंभ होती है जो कि बुद्धि (तर्क) का प्रतिफल है। वेद के श्रवण से किस प्रकार का ज्ञान हमें प्राप्त होता है ? यहाँ पर मूर्ति वाचस्पति मिश्र के ''भामती प्रस्थान', का परीक्षण (खण्डन) एवं प्रकाशात्म के 'विवरण प्रस्थान' का समर्थन करते हैं। वाचस्पति स्वीकार करते हैं कि श्रवण ब्रह्म की अव्यवहित अनुभूति (अतःप्रज्ञात्मक) प्रदान करने में असमर्थ है एवं इसके लिए उसे मनन के सहायता की आवश्यकता होती है। विवरण प्रस्थान, इसके विपरीत, यह स्वीकार करता है कि वेद वाक्य का श्रवण मात्र सत् का अव्यवहित ज्ञान देने में सक्षम है और मनन द्वारा व्यवहित ज्ञान को अव्यवहित (अपरोक्ष) ज्ञान में परिवर्तित करने के लिए आवश्यकता नहीं है। मूर्ति के दार्शनिक दृष्टिकोण को हम इस रूप में प्रस्तुत कर सकते है : यदि हम श्रवण को अतीन्द्रिय विषय –धर्म अथवा ब्रह्म– की अंतर्दृष्टि अथवा प्रातिभ ज्ञान का स्त्रोत मानते हैं, और तर्क अथवा विचार प्रदत्त की व्याख्या, शोधन एवं नियमन करता है, तो इसमें कोई समस्या नहीं है; क्योंकि यहाँ हम उन्हें परस्पर पूरक स्वीकार करते हैं, अर्थात् वे एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं। तर्क में अंतर्वस्तु का अभाव एवं श्रुति में आकार का अभाव होता है।[9]

मूर्ति स्वीकार करते हैं कि अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म की दो परिभाषायें (लक्षण) हैं, किन्तु अद्वैतवादी साहित्य में कहीं भी गंभीरतापूर्वक यह विवेचित नहीं किया गया है कि क्यों दो ही लक्षण (एक अथवा तीन नहीं) एवं इन दोनों में परस्पर क्या सम्बन्ध है। वे दो लक्षण हैं : तटस्थ और स्वरूप।

1. तटस्थ लक्षण में हमें यह स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है कि ब्रह्म सभी का निरूपाधिक अधिष्ठान है।

2. स्वरूप लक्षण तो हमें ब्रह्म के स्वरूप में गहनता से विचार करने के लिए उत्प्रेरित करता है।

इन लक्षणों का उद्‌देश्य ब्रह्म–जिज्ञासा में निहित आध्यात्मिक प्रक्रिया को गहराई से मनन (विचार) करना है – यहाँ हम नित्यानित्य वस्तु विवेक एवं लौकिक मूल्यों के प्रति उदासीनता की अभिवृत्ति पाते हैं। तटस्थ लक्षण का उदाहरण है कि ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान है, वह उसकी उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण है। यह जगत् किन्तु ब्रह्म का परिणाम नहीं है अपितु विवर्त है। हम अपने अनादि अज्ञान के कारण ब्रह्म को नहीं जानते हैं। हमें जगत् का ही ज्ञान होता है। मिथ्या रूपी जगत् का निषेध करके ही ब्रह्म का ज्ञान प्रारंभ होता है। तटस्थ लक्षण का प्रयोजन यह है कि वह हमें आभास से सत् की ओर गमन में प्रेरित करता है। मूर्ति की दृष्टि में इसी कारण से शंकर ब्रह्मसूत्रभाष्य का प्रारंभ ब्रह्म के लक्षण से न करके अध्यास से करते हैं। तटस्थ लक्षण से उत्पन्न अंतर्दृष्टि यह है कि ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान है और जगत् ब्रह्म का विवर्त है।[10] हम जब रज्जु से सर्प, जगत् के आभास से ब्रह्म के अवबोध की ओर बढ़ते हैं तो अंतर्दृष्टि विकसित होती है। कुछ विचारकों का यह मन्तव्य है कि विभेदक ही लक्षण हो सकता है। जगत् जो कि ब्रह्म में समाकलित नहीं है कैसे ब्रह्म को लक्षित (परिभाषित) कर सकता है ? मूर्ति के अनुसार अद्वैत दर्शन के लिए आवश्यक नहीं है कि लक्षण सदैव जिसे परिभाषित किया जा रहा है उसका वास्तविक गुण हो। वह एक कल्पित चिन्ह भी हो सकता है जो कि संदर्भित वस्तु को निर्देशित (इंगित) करे; यथा भवन पर बैठा कौआ उस भवन को अन्य भवनों से पृथक् करता है यद्यपि वह भवन का अंश नहीं है। उसी प्रकार से जगत् ब्रह्म का निर्देशक बिना उसका अंगभूत हुए हो सकता है। आभास एवं मिथ्यात्व को दर्शन के गृहीत तथ्य के रूप में स्वीकार करने के कारण अद्वैत वेदान्त काण्ट की दार्शनिक दृष्टि का जो कि बुद्धि के विप्रतिषेध से ग्रसित हो जाती है, उसका अतिक्रमण (समाधान) करता है। अद्वैत वेदान्त अधिष्ठान (स्वयं–में–वस्तु) को अज्ञात न कल्पित करके उसे अनुभव में अनुगत (अंतर्निहित) स्वीकार करता है। यदि सत् एवं आभास दोनों अनुभूत होते हैं तो उनमें क्या संबंध है? अद्वैतवादी दृष्टिकोण में ब्रह्म मूलभूत है जो कि दूसरे से संबद्ध हुए बिना अस्तित्ववान है, तो वहीं आभासित जगत् स्वयं में अस्तित्व की संभावना नहीं रखता है, और इस कारण से ब्रह्म पर आश्रित है। इन दोनों के मध्य संबंध को मूर्ति 'एक तरफा आश्रय संबंध' की संज्ञा देते हैं। वे यहाँ पर अद्वैत की तुलना सांख्य एवं माध्यमिक दर्शन से करते हैं। सांख्य

के अनुसार कारण एवं कार्य के मध्य संबंध यथार्थ परिवर्तन हैं, और ये दोनों पद वास्तविक हैं, यद्यपि कारण कार्य की तुलना में अधिक गहन एवं यथार्थ है। माध्यमिक की दृष्टि में संबंध के दोनों पद आभास (मिथ्या) हैं, क्योंकि उनमें स्वयं के अनिवार्य स्वरूप का अभाव होता है। माध्यमिक को निषेधवादी कहना अनुचित है, क्योंकि वे तत्त्व को स्वीकार करते हैं, यद्यपि उसे सत् अथवा असत् में निर्धारित नहीं किया जा सकता है। माध्यमिक निरपेक्ष के अस्तित्व को सभी संवृत्तियों की प्रतिपन्नता के रूप में स्वीकार करता है, अर्थात् वह तटस्थ लक्षण तक ही सीमित है। मूर्ति के अनुसार अद्वैत वेदान्त का वैशिष्ट्य ब्रह्म के स्वरूप लक्षण को भी उद्घाटित करने में है। यह ब्रह्म की सत्, चित् एवं आनन्द के रूप में प्रस्तुति है। मूर्ति इस प्रश्न का उत्तर समुचित ढंग से देते हैं कि स्वरूप लक्षण के लिए तीन निर्देशक (संकेतांक)–सत्, चित् एवं आनन्द की आवश्यकता क्यों है ? वे स्वीकार करते हैं कि यह तीनों क्रमशः संज्ञानात्मक, संकल्पात्मक एवं भावनात्मक पक्ष कर प्रतिनिधित्व करते हैं। ज्ञानात्मक (सत्) में हम प्रदत्त (स्वयं–में–वस्तु) को उद्घाटित करते हैं और इसका ज्ञान वैचारिक कोटियों की मध्यस्थता के बिना होता है। संकल्पात्मक (चित्) में मात्र संकल्पात्मक क्रिया ही अंतर्वस्तु है जो कि नैतिक प्रयास अथवा चेतन कल्पना में अभिव्यक्त होती है। भावनात्मक (आनन्द) में अंतर्वस्तु और चेतना, विषयी एवं विषय एक अपृथक् समष्टि (अंगी) निर्मित करते हैं और इस प्रकार से एक का दूसरे से पार्थक्य का अर्थ भावनात्मक अभिवृत्ति की हानि है। यह परिपूर्णता (आनन्द) की सजीव अनुभूति है। मूर्ति की दृष्टि में यह निरपेक्ष की बहुलता नहीं है, अपितु वे (निर्देशक) एक ब्रह्म को वैकल्पिक रूप में प्रस्तुत करते हैं।

IV

मूर्ति ने अपने महत्त्वपूर्ण आलेख ''संवृत्ति एवं परमार्थ इन माध्यमिक एण्ड अद्वैत वेदान्त'', में राधाकृष्णनन, दासगुप्ता श्चेरवात्स्की जैसे अध्येताओं के दार्शनिक दृष्टिकोण को चुनौती दी, और इन सभी की यह मान्यता है कि अद्वैत ब्रह्म एवं माध्यमिक शून्यता में जो भेद हैं वे सतही हैं और यह दोनों दार्शनिक संप्रदाय लगभग समान हैं। मूर्ति तर्क करते हैं कि ''संरचना एवं पदावली में सतही समानताओं के बावजूद उनमें भेद गहन एवं व्यापाक है।[11] माध्यमिक एवं अद्वैत दर्शनों में निरपेक्ष विचारों के परे हैं और आनुभविक विधेयताओं से विहीन है, किन्तु निरपेक्ष अनुगत सत्ता भी है जो

कि प्रपंचात्मक जगत् का मूल 'सत्' है। निरपेक्ष की हमें साक्षात् अनुभूति होती है जिसे प्रज्ञापारमिता, लोकोत्तर ज्ञान एवं अपरोक्षानुभूति से अभिहित किया जाता है। यहाँ पर जगत् के आभासित स्वरूप को लेकर भी सहमति है। अनादि अविद्या से ग्रसित आभास (जगत्) का पूर्णरूपेण निषेध निरपेक्ष के यथार्थ ज्ञान से संभव है। इन समस्त समानताओं के होने पर भी माध्यमिक एवं अद्वैत में विभेद के गुण–सूत्र गहरे हैं। इन संप्रदायों में जिसका खण्डन आभास के रूप में किया जाता है नितान्त भिन्न है। माध्यमिक विकल्प अथवा दृष्टि का निषेध करता है, क्योंकि यह सत् को मिथ्याकृत करती है, विज्ञानवाद वस्तुनिष्ठता का निषेध करता है, क्योंकि यह विज्ञान को विषयी एवं विषय के द्वैत के रूप में प्रस्तुत करता है, तो वहीं अद्वैत वेदान्त भेद को निषेधित करता है, निरपेक्ष (सत्) सार्वभौम एवं समरूप है। हमें एक और महत्त्वपूर्ण भेद नहीं विस्मृत करना चाहिए कि अद्वैत वेदान्त एवं माध्यमिक दो भिन्न परंपराओं से संबद्ध हैं – औपनिषदिक आत्म परंपरा एवं बौद्ध नैरात्म्य परंपरा। मूर्ति इन्हें क्रमशः सत् की द्रव्यवादी दृष्टि एवं सत् की पर्याय दृष्टि की संज्ञा देते हैं। अद्वैत में ब्रह्म को जगत् का अधिष्ठान स्वीकार किया गया है जो कि नित्य, निर्गुण एवं निर्विशेष है और इसके अतिरिक्त ब्रह्म एवं आत्मा में तादात्म्य है। बौद्ध परंपरा में आत्मा अथवा द्रव्य का निषेध है और सत् को संभूति अथवा क्षणिक सत्ता माना गया है। यहाँ पर आत्म–तत्त्व (पुद्गल–नैरात्म्य) ही आभास नहीं है अपितु तथाकथित तत्त्व जो कि प्रारंभिक आभिधार्मिक बौद्ध में स्वीकृत है वह भी आभास है (धर्म–नैरात्म्य)। खण्डन अथवा निषेध पूर्ण है, अर्थात् सब कुछ शून्य है – स्वयं के अंतर्निहित गुण (स्वरूप) से विहीन है (निःस्वभाव)। परंपराओं में मूलभूत अंतर के अतिरिक्त मूर्ति दर्शन में द्वन्द्वन्याय के प्रयोग में माध्यमिक एवं अद्वैत में स्पष्ट विभेद करते हैं। माध्यमिक के लिए द्वन्द्वन्याय ही समस्त दर्शनशास्त्र है, जब एक बार समस्त दृष्टियों का प्रहाण हो जाता है तो जानने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता है। यहाँ पर असंगति–प्रदर्शन के लिए प्रसंगापत्ति विधि प्रयुक्त होती है। प्रज्ञा समस्त दृष्टियों का निषेध है जो कि स्वयं में समीक्षात्मक अवबोध है और जिसके अंतर्गत कोई अंतर्वस्तु का बोध (ज्ञान) नहीं होता है। यहाँ किसी अंतर्निहित सत् का ज्ञान विषय के रूप में नहीं होता है। अद्वैत वेदान्त में द्वन्द्वन्याय का प्रयोग औपनिषदिक 'नेति नेति' के रूप में हुआ है जिसका उद्देश्य द्वैत अथवा भेद का खण्डन करना

है क्योंकि वह सत् को आच्छादित करता है। हम ब्रह्म का ज्ञान उसके मिथ्या अवधारणीकरण के निषेध से प्राप्त करते हैं और यही अद्वैत वेदान्त में द्वन्द्वन्याय की भूमिका है। द्वन्द्वन्याय में निषेध के अनुप्रयोग के क्रम में भी भेद है। अद्वैत वेदान्त का प्रारंभ आनुभविक भ्रम (रज्जु–सर्प) के विश्लेषण से होता है और तत्पश्चात् यह विश्लेषण जगत् मिथ्यात्व में विस्तारित होता है। इस विश्लेषण का उद्‌देश्य सत् एवं असत् की अवधारणा को प्रस्तुत करना है। सत् का लक्षण अबाधित्व है क्योंकि इसका स्वरूप संपूर्ण अस्तित्व में अपरिवर्तित रहता है, जबकि मिथ्या न तो सत् और न ही असत् है अपितु अनिर्वचनीय है। माध्यमिक में जगत् मिथ्यात्व को पूर्ण एवं स्थायी तर्क (बुद्धि) के संघर्ष के रूप में विवेचित किया गया है–दृष्टियों में असीम विरोध की परिणति प्रज्ञा का प्रादुर्भाव है। मूर्ति माध्यमिक एवं अद्वैत के निरपेक्ष (सत्) में भी अंतर करते हैं। माध्यमिक में निरपेक्ष सत् एवं संभूति की दृष्टियों के संघर्ष से मुक्त ज्ञान है। अद्वैतवादी निरपेक्ष भेदरहित सत्ता अथवा शुद्ध सत् (ब्रह्म) का ज्ञान है। माध्यमिक का निरपेक्ष ज्ञानमीमांसीय है, तो वहीं, अद्वैत का निरपेक्ष तात्त्विक है।[12] माध्यमिक का एक मात्र सरोकार हमारी ज्ञान प्रक्रिया का शुद्धिकरण है, क्योंकि ज्ञानात्मक प्रक्रिया में दृष्टियों को निर्मित करने की अंतर्निहित प्रवृत्ति होती है – सत् शाश्वत अथवा क्षणिक, तादात्म्य अथवा भेद आदि। यहाँ दृष्टियाँ सत् को आवृत अथवा अस्पष्ट करती हैं जब तक कि द्वन्द्वन्याय इसका शोधन न कर दे। सत् का ज्ञान उसके मूल स्वरूप में होना चाहिए (तथता अथवा भूतकोटि)। माध्यमिक में बल हमारे जानने के तरीके पर है न कि क्या ज्ञात हुआ। अद्वैत वेदान्त के तात्त्विक दृष्टिकोण में हम जिसे जानते हैं वह महत्त्वपूर्ण है। अद्वैत वेदान्त में द्वन्द्वन्याय का प्रयोग भेद, द्वैत एवं परिच्छेद को नष्ट करने के लिए किया जाता है जिससे कि ब्रह्म के शाश्वत, सार्वभौम एवं स्वतः सिद्ध शुद्ध सत्ता की स्थापना हो।

मूर्ति माध्यमिक के संवृत्ति एवं परमार्थ सत्य की विवेचना एवं तुलना अद्वैत दर्शन से करते हैं। निरपेक्ष सत्य (परमार्थ) सत् का बिना किसी दृष्टि–दोष का ज्ञान है। निरपेक्ष सत्य विचार, भाषा एवं आनुभविक निर्वचनों के परे है, यह अनभिलाप्य एवं अचिन्त्य है। संवृत्ति वह सत्य है जो कि हमारे सामान्य जगत् का पारंपरिक विश्वास है। वे चंद्रकीर्ति द्वारा प्रस्तुत संवृत्ति की तीन परिभाषाओं को विवेचित करते हैं :

1. संवृत्ति वह है जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को आवृत करती है और बुद्धि

(तर्क) के समरूप है, जो कि मन (मस्तिष्क) की पदार्थात्मक (वर्गणात्मक) क्रिया है।

2. यह वस्तुओं की परस्पर निर्भरता, उनकी सापेक्षता को निर्देशित करती है, जबकि इसके विपरीत निरपेक्ष स्वयं में सर्वथा असंबद्ध है।

3. यह पारंपरिक स्वरूप (संकेत) को संदर्भित करती है जो कि जन–मानस द्वारा उनके भाषाई परंपराओं एवं संकेत के आधार पर स्वीकृत है।

चंद्रकीर्ति की प्रथम परिभाषा कि संवृत्ति वह है जो सत् को आवृत करती है, की तुलना अद्वैत के अविद्या की अवधारणा से की जाती है। अद्वैत वेदान्त में अविद्या का कार्य मात्र आवरण ही नहीं अपितु विक्षेप भी है जिसके परिणामस्वरूप अद्वैत शाश्वत सत् (निरपेक्ष) बहुत्व के रूप में आभासित होता है (जगत–मिथ्यात्व)। द्विविध सत्य के सिद्धान्त में संभाव्य भ्रांति के लिए यह स्वीकार करना होगा कि दोनों भिन्न क्षेत्र हैं जिन पर यह पद आरोपित होते हैं। यहाँ पर वस्तुतः मात्र एक क्षेत्र है –यह दोनों पद हमारे वस्तुओं को देखने की विधि में भिन्नता से संबंधित हैं। संवृत्ति सत् का मिथ्या अवबोध है और परमार्थ उसी को सही ढंग से देखना है। परमार्थ की दृष्टि मात्र एक सत् अथवा सत्य है, जबकि संवृत्ति पारमार्थिक दृष्टि से नितान्त असत्य है। यदि यह वस्तुस्थिति है तो हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि संवृत्ति को क्यों स्वीकार करें ? संवृत्ति का औचित्य यह है कि हम प्रारंभ में संवृत्ति में निमग्न रहते हैं, परमार्थ का अवबोध तभी संभव है जब हम संवृत्ति के मिथ्या ज्ञान का निषेध करें। मूर्ति ने माध्यमिक एवं अद्वैत वेदान्त में इस बिन्दु पर सहमति को प्रस्तुत किया : परमार्थ साध्य (लक्ष्य) है जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं, संवृत्ति साधन है, सोपान है जो हमें इस लक्ष्य के लिए समर्थ बनाती है।[13] वे माध्यमिक एवं अद्वैत वेदान्त की निर्वाण/मोक्ष (स्वतंत्रता) के पद में परमार्थ की विचारणा में साम्य एवं वैषम्य को भी निरूपित करते हैं। माध्यमिक की दृष्टि में अंतिम मुक्ति (निर्वाण) शून्यता से ही संभव है–यह सभी दृष्टियों, दृष्टिकोणों एवं विषमावस्थाओं का त्याग है। अद्वैत वेदान्त में मोक्ष तभी संभव है जब ब्रह्म के साथ तादात्म्य की अंतःप्रज्ञात्मक अनुभूति हो। उपनिषद् के महावाक्य 'तत् त्वम् असि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि का मनन स्वतंत्रता (मुक्ति) का अव्यवहित अवबोध उत्पन्न करते हैं, संसार से मुक्ति संभव बनाते हैं, आत्मा एवं ब्रह्म के तादात्म्य की साक्षात् अनुभूति होती है। मूर्ति के अनुसार माध्यमिक एवं अद्वैत में मुक्ति स्वार्थमूलक दृष्टिकोण का त्याग एवं सार्वभौम

की प्राप्ति है। यह प्राप्ति अधिक भावात्मक रूप में ब्रह्म भावापन्नता है, जबकि माध्यमिक इस अवस्था को विशेषित करने की अनुमति हमें नहीं प्रदान करता है और उसे शून्यता में सीमित करता है।[14]

हम संपूर्ण विवेचन का समाहार इस प्रकार से कर सकते हैं कि मूर्ति की दार्शनिक स्थिति अद्वैत वेदान्त के संदर्भ में विशिष्ट है। अद्वैत वेदान्त की व्याख्या में वे जिस नवीनता एवं मौलिकता का समावेश करते हैं, वह उनका बौद्ध परंपरा के साथ गहन एवं रचनात्मक संवाद का परिणाम है।[15]

V

मूर्ति का अन्य महत्त्वपूर्ण लेखन ''दी फिलासफी ऑफ लैंग्वेज इन दी इन्डियन कन्टेक्स्ट'' है। वे इस तथ्य को इंगित करते हैं कि वर्तमान में पाश्चात्य जगत में प्रचुर मात्रा में दार्शनिकीकरण भाषाई दर्शन के आधार पर हो रहा है। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दीं के पूर्वार्ध में ही तुलनात्मक भाषाशास्त्र, शब्दार्थगत एवं संरचनात्मक विश्लेषण का प्रचलन था, किन्तु भाषा के संदर्भ में दार्शनिक अभिरुचि का प्रारंभ तर्कशास्त्री–गणितज्ञ गोटलन फ्रेगो, बर्ट्रेंड रसेल, ए.एन. व्हाइटहेड एवं लुडविग विट्गेनस्टाइन के प्रयासों से हुआ जो कि कठोर एवं संक्षिप्त भाषा को निर्मित करना चाहते थे। भाववादी एवं भाषाई दार्शनिक ही नहीं अपितु फिनोमिनोलॉजकीय एवं अस्तित्ववादी और यहाँ तक कि धर्मशास्त्रियों के लिए भी भाषा एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन का विषय है। दर्शनशास्त्र को भाषा की समीक्षा के रूप में भी ग्रहण किया गया है। भाषा विचार के साथ विकसित होती है, अथवा इसकी भी संभावना है कि विचार भाषा के अनुरूप विकसित हो, और अंततः वे समरूप भी हो सकते हैं। भर्तिहरि अपने वाक्यपदीय (1.124) में स्वीकार करते हैं कि मनुष्य के सभी संप्रत्ययात्मक ज्ञान शब्दों में अनुस्यूत और भाषा द्वारा प्रकाशित होता है। भारतीय दर्शन में भाषा एवं विचार में घनिष्ठ संबन्ध अवधारित किया गया है। न्याय–वैशेषिक मूलतः पदार्थ का दर्शन है। यहाँ पर अरस्तू की ही भांति स्वीकृत है कि भाषा की वर्गणायें (पदार्थ) सत् की भी वर्गणायें हैं। पूर्व एवं उत्तर–मीमांसा वस्तुतः वेद (श्रुति) पर भाष्य है। मूर्ति, वास्तव में, के.सी. भट्टाचार्य के दार्शनिक अंतर्दृष्टि के प्रशंसक हैं – भट्टाचार्य कथनीय के विभिन्न श्रेणियों को स्वीकार करते हुए विचार एवं भाषा में अंतर्निहित समरूपता को उद्घाटित करते हैं। मूर्ति की यह मान्यता है कि भाषा के

बिना चिंतन (विचार) संभव है, एक भ्रान्ति है। मार्टिन हाइडेग्गर के अनुसार भाषा सत् का गृह है, एक ऐसा गृह जिसमें मनुष्य रहते हैं। भारतीय चिंतन के संदर्भ में मूर्ति टिप्पणी करते हैं कि यह अत्यन्त ही प्राचीन एवं स्थापित सिद्धान्त है कि चैतन्य एवं वाक् में समरूपता है। शब्द और विचार साथ में विकसित होते हैं, अथवा वे जानने एवं संप्रेषण के गहन आध्यात्मिक आवेग की अभिव्यक्तियाँ हैं।[16] इस प्रश्न के उत्तर में कि किस प्रकार से भाषा सत् को ग्रहण एवं अभिव्यक्त करती है, मूर्ति का कथन उचित है कि भाषा के विभिन्न सिद्धान्त दर्शनशास्त्र के भिन्न–भिन्न तत्त्वमीमांसीय मान्यताओं के अनिवार्य प्रतिफलन हैं। भाषा दर्शन के तटस्थ होने की कोई संभावना नहीं है। उत्तरवर्ती विट्गेनस्टाइन के अनुसार भाषा प्राकृतिक है और वह सत् को चित्रित (प्रतिबिम्बित) नहीं करती है, अर्थात् उसके आधार पर कोई सत् के मूलभूत अवयवों को अनुमित नहीं किया जा सकता है। भाषा विभिन्न प्रयोगों के आधार पर बहुविध भाषा खेलों को निष्पादित करती है। प्राचीन पाश्चात्य दृष्टि यूनानी एवं मध्ययुगीन ईसाई दर्शन 'लोगोस' को प्राचीन भारतीय परिकल्पनात्मक चिंतन के रूप में स्वीकार करती है। यहाँ भाषा की दैवीय उत्पत्ति स्वीकृत है जो कि तात्त्विक सत्ता को अभिव्यक्त करती है। पाश्चात्य चिंतन में यह प्रवृत्ति इमैन्युअल काण्ट, विलहेम फॉन हम्बोल्ट एवं मार्टिन हाइडेग्गर में भी परिलक्षित होती है। वर्तमान में डेरिडा इसे चुनौती देते हैं और उनकी यह मान्यता है कि भाषा का कोई ग्रंथेतर संदर्भ नहीं होता है। डेरिडा विखण्डन अथवा भाषा के आत्म–विश्लेषण की प्रक्रिया अपनाते हैं जो कि अपचयनवाद के दोष या तो आंतरिक दिशा–दैवीय लोगोस अथवा बाह्म दिशा या फिर पारंपरिक चिन्ह (यथा लेखन) को उद्घाटित करती है।

मूर्ति की दृष्टि यह है कि विभिन्न भारतीय दार्शनिक संप्रदाय जो कि एक दूसरे से सत् विषयक विचारों को लेकर पारंपरिक वाद–विवाद करते हैं, उन्हें अब एक दूसरे का सामना अपने भाषा सम्बन्धी विचार के सामान्य धरातल पर करना चाहिए। भारतीय दर्शन में दो परंपरायें भाषा के विभिन्न मूल्यांकन से विकसित होती देखी जा सकती हैं। वेद से उद्भूत होने वाली ब्राह्मण परंपरा भाषा को दैवी वाक् के रूप में स्वीकार करती है, जैसे आत्म तत्त्व अवरोहित एवं स्वयं को संवृत्ति में संगठित (अवतीर्ण) करता है, विभिन्न भेष धारण करता है और अपने यथार्थ स्वरूप को संवेदनशील आत्मा के लिए उद्घाटित करता है।[17] इस परंपरा के अंतर्गत वेदान्त,

मीमांसा, सांख्य–योग, व्याकरण एवं काश्मीर शैववाद आते हैं। इसके विपरीत प्राकृतिक परंपरा भाषा को स्वेच्छारी एवं पारंपरिक उपकरण स्वीकार करती है। यह दृष्टिकोण भाषा के संदर्भ में नामवादी, भाववादी एवं संशयवादी है। शब्द एवं श्रुति ज्ञान का प्रामाणिक स्रोत नहीं है। चार्वाक एवं प्रारंभिक बौद्ध इस परंपरा के प्रमुख प्रतिनिधि हैं, जबकि जैन एवं न्याय इन दोनों परंपराओं के बीच मध्यवर्ती स्थिति को धारण करते हैं। मूर्ति ने भाषा के स्वरूप, भाषा के स्तर, धार्मिक भाषा एवं भाषा से संबद्ध अन्य सार्थक बिन्दुओं को उद्घाटित करने का गंभीर प्रयास किया है। भारतीय विचारकों के लिए भाषा मूलतः वाचिक शब्द अथवा वाक् है। इस महत्त्व (बल) की निष्पत्ति वाचिक बनाम लेखन का वाद–विवाद है जो कि वर्तमान में पाश्चात्य अध्ययेताओं के मध्य भाषाई समीक्षावाद, धार्मिक अध्ययन (बाइबिलीय समीक्षावाद), भाषाई एवं नृविज्ञान में प्रचलित है। यहाँ पर विचारणीय बिन्दु यह है कि शब्द–शक्ति में क्या घटित होता है जब चेतना रूपान्तरित होकर वाचिक (जैसा कि पारंपरिक धर्म एवं संस्कृति) से लेखन (आधुनिकता) में गमन करती है। मूर्ति के अनुसार पाश्चात्य विचारक की दृष्टि में भाषा सामान्यतः विचारों के संप्रेषण, संवेगों, इच्छाओं की स्वैच्छिक उत्पन्न प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्ति की शुद्धरूपेण मानवीय एवं अनैसर्गिक विधि है .... व्यक्त (स्पष्ट) ध्वनियों की व्यवस्था जिसने अर्थ ग्रहण कर लिया है।[18] इस दृष्टिकोण में एक विशेष ध्वनि अर्थ धारण करती है। मूर्ति ने पतंजलि के महाभाष्य आह्निक (प्रथम) को संदर्भित किया है जहाँ शब्द की परिभाषा यह है कि जिसके उच्चारण मात्र से विषयों का सामान्य अवबोध होता है और यहाँ पर शब्द ध्वनि से अधिक है। मीमांसा संप्रदाय में शब्द–नित्यत्ववाद का समर्थन है जो यह स्थापित करता है कि भाषा ध्वनि के साकार रूप से भिन्न है और वह अनादि है। मीमांसासूत्र (1.1.5) स्पष्ट करता है कि शब्द एवं उनके अर्थ के साथ संबंध शाश्वत, अव्युत्पन्न एवं अव्यैक्तिक है। यह संबंध न तो कोई मनुष्य और न ही ईश्वर द्वारा स्थापित है। मूर्ति यहाँ प्रतिपादित करते हैं कि प्लेटो के प्रत्यय संबंधित सार्वभौमिकता, समरूपता एवं शाश्वत के तर्क शब्द की भारतीय अवधारणा पर आरोपित होते हैं। ''गाय'' शब्द प्लेटो के आकार (प्रत्यय) हैं जो कि स्वरूपतः शाश्वत हैं, यद्यपि उसके उच्चारण (कथनीयता) की वास्तविकता में भेद संभव है। इसी प्रकार मीमांसा और व्याकरण के भाषा–दर्शन में ''गाय'' शब्द ध्वनि से निर्मित नहीं होता है, अपितु उससे उद्भूत होता हैं।

VI

भाषा के भारतीय दर्शन से एक अन्य रोचक प्रसंग संबद्ध है कि शब्द कैसे अर्थ प्रस्तुत करते हैं ? क्या शब्द मुख्यतः व्यक्ति को संदर्भित करते हैं एवं बारंबार प्रयोग से सामान्य (जाति) को अर्जित करते हैं ? अथवा शब्द मुख्यतः जाति के सूचक हैं एवं निष्पत्ति के माध्यम से विशेष वस्तुओं (व्यक्तियों) पर उपचरित होते हैं ? अथवा शब्द गुणार्थक दृष्टि से सामान्य और वस्त्वर्थक रूप में विशेष का निर्देशन अर्थ में समानरूपेण करते हैं ? हम यहाँ अनेक विचारों को पाते हैं, यथा बौद्ध दर्शन का नामवाद, मीमांसा का यथार्थवाद एवं इसके अतिरिक्त अन्य मध्यवर्ती दार्शनिक स्थितियाँ भाषा के भारतीय विचार में उपलब्ध हैं। मूर्ति अपनी स्वीकार्यता भर्तृहरि के व्याकरणीय विचार के प्रति निर्देशित करते हैं। वाक्यपदीय में भर्तृहरि यह प्रतिपादित करते हैं कि वाक्य भाषा की यथार्थ इकाई है। वाक्य का शब्दों में विभाजन एवं शब्दों का वर्णमाला में संयोजन एक पारंपरिक एवं सुविधाजनक कल्पना है। भाषा की इकाई क्या है–शब्द का प्रत्येक वर्ण अथवा वाक्य का प्रत्येक शब्द ? क्या प्रत्येक वर्ण अथवा शब्द का स्वयं में अर्थ है ? अथवा वे जब संयुक्त होते हैं तो अर्थ उत्पन्न होता है ? मूर्ति दोनों विकल्पों का खण्डन करते हैं, क्योंकि शब्द के वर्ण जैसे उच्चारित होते हैं वैसे ही नष्ट हो जाते हैं। अतः शब्द के अंतिम वर्ण अथवा वाक्य के अंतिम शब्द तक उच्चारित होने में पूर्ववर्ति तत्त्व नष्ट (मृत) हो जाते हैं। हम ऐसी स्थिति में किस प्रकार समग्र अर्थ को प्राप्त करते हैं ? इन समस्याओं के कारण व्याकरण संप्रदाय स्फोटवाद प्रतिपादित करता है। इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि भाषा को जो संगठित करता है और अर्थ प्रदान करता है वह एकात्मक शब्द का विचार है, जो कि स्वयं को वाक्य में समग्र अर्थ के रूप में प्रकट करता है (अखण्ड–वाक्य–स्फोट)। यहाँ मूर्ति काण्ट के सिद्धान्त का आह्वान करते हैं कि समस्त ज्ञान बहुविध इन्द्रिय–संवेदनों के संश्लेषण हैं। व्याकरणीय विचार में ऐन्द्रिक–प्रदत्त, पृथक् वर्ण एवं शब्दों का एकात्मक–अर्थ वाक्य के प्रागनुभविक आकार (स्फोट) द्वारा प्राप्त है–जैसे काण्ट की अनुभवातीत वर्गणाएँ ऐन्द्रिक प्रदत्तों को एकत्व अथवा समग्रता प्रदान करती हैं। मूर्ति के अनुसार स्फोट द्वारा, जो कि पृथक् वर्णों अथवा शब्दों के उच्चारण को श्रवण करने से सक्रिय होते हैं, वाक्य का समग्र अर्थ स्पष्ट होता है। स्फोट एक वास्तविक वाक्य अथवा शब्द–इकाई हैं जो कि

प्रत्यक्ष वाक्य–वर्ण और शब्दों के अग्रभाग के पार्श्व में कार्यरत है।[19] वे अनुभूत करते हैं कि मीमांसा एवं न्याय के आनुभविक दृष्टिकोणों से विपरीत, व्याकरणीय भाषा का सिद्धान्त अतीन्द्रियवाद का आकार है। ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से यह दो स्तरीय सिद्धान्त है : वाक् के आनुभविक स्तर को वैखरी से अभिहित किया जाता है। उसका प्रागनुभविक आकार, वास्तव में, मध्यमा वाक् है। मूर्ति के अनुसार शब्द एवं अर्थ दो पृथक् सत्तायें नहीं हैं, यह दोनों एक समान स्रोत जो कि उनके अस्तित्व का अधिष्ठान, अर्थात् शब्द–ब्रह्म से उद्भूत हैं। वे आधुनिक पश्चिमी भाषा के सिद्धान्तों की सीमा का रेखांकन भी करते हैं, जैसे कि वे संवृत्ति के धरातल से बहुत आगे नहीं जाते हैं और तात्त्विक प्रश्नों से सचेतरूपेण बचते हैं। भर्तृहरि समस्त जगत् को दैवीय शब्द (शब्द–ब्रह्म) से निःसृत मानते हैं। मूर्ति भर्तृहरि के वाक्यपदीय 1.1 को अनुदित करते हैं–ब्रह्म अनादि एवं अंतहीन है, वह वाक् का विनाशहीन स्वरूप है, वस्तुओं के आकार में वही स्वयं अभिव्यक्त है, जगत् प्रक्रिया इस प्रकार आगे बढ़ती है।[20] वे भाषा के स्तरों की विवेचना में विट्गेनस्टाइन को उद्धरित करते हैं कि ''भाषा की श्रेणीबद्धता की कोई सीमा नहीं है''। इसके निम्नतम स्तर पर हम उससे प्रारंभ करते हैं जो कि अनिर्धारित है, व्याख्या की प्रक्रिया से अछूता है, जिसमें चयन एवं विभेद का अभाव है और इस अर्थ में प्राग्तार्किक है। हम कुछ ऐसी भाषा से अंत करते हैं जिसका और स्पष्टीकरण संभव नहीं है– अर्थात् स्वतः–सिद्ध है। प्रथम स्तर साधारण भाषा का है जिसका किसी विशिष्ट दार्शनिक स्थिति के प्रति कोई रूझान नहीं होता है। यह वैज्ञानिक अध्ययन में प्रयुक्त मूलभूत तथ्य है। भाषा की शास्त्रीय मीमांसा करते हुए हम सामान्य भाषा की सामग्री के स्थान पर विशिष्ट दार्शनिक स्थिति के लिए साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। मूर्ति हमारा ध्यान दूसरी तरफ आकृष्ट करते हैं, जिसके अंतर्गत हम भाषा के स्तरों पर विचार कर सकते हैं। विभिन्न तर्कशास्त्र एवं महत्त्वपूर्ण परिस्थितियों की विभिन्न व्याख्यायें और विशेषतया मूल्यपरक निर्णय हमारा ध्यान अतीन्द्रिय क्षेत्र की ओर आकर्षित करते हैं। भारतीय विचार में इसका उदाहरण ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता है। यह भर्तृहरि के वाक्यपदीय (1.142) में भाषा के स्तरों के व्यवस्थितिकरण में प्रतिबिम्बित होता है। उनकी शब्द ब्रह्म की पूर्वकल्पना वाक्य–स्फोट के रूप में दिक् एवं काल की शक्तियों द्वारा प्रकट होती है। यह अत्यन्त सुस्पष्ट है कि भाषा कम से कम दो स्तरों पर कार्य करती हुई

दिखती है। एक स्तर पर, प्रातिभ अंतर्दृष्टि (प्रतिभा)—जिससे वाक्यार्थ का अखण्ड अवबोध (वाक्य—स्फोट) सम्भव होता है और जिसे पश्यन्ति—वाक् से व्यवहृत किया जाता है। दूसरे स्तर पर वाक्य में प्रयुक्त उच्चरित शब्द जिसे भर्तृहरि वैखरी वाक् की संज्ञा देते हैं। इन दो स्तरों के मध्य वे मध्यमा वाक् को रखते हैं,जो दोनों को समाहित करती है। शब्द, जो कि प्रारंभ में पर्याप्त आंतरिक होता है, संज्ञान के उद्देश्य से क्रमशः बाह्यकृत होता है। भर्तृहरि समस्त संज्ञान को अनिवार्यतः भाषा से संबद्ध करते हैं, चूंकि भाषा के स्तरों द्वारा ही संज्ञानात्मक प्रक्रिया अर्थवान होती है।

मूर्ति अंत में इस आलेख के अंतर्गत धार्मिक भाषा का विश्लेषण करते हैं। धार्मिक कथनों जैसे रहस्यात्मक ओम् हमें सत् की सूचना प्रदान करता है अथवा परीक्षणीय घटनाओं के मूल में स्थित अथवा उन्हें उत्पन्न करता है। धार्मिक भाषा एक ऐसी भाषा जो कि सत् की विभिन्न और बहुस्तरीय गवेषणा अथवा उद्घाटन करती है।[21] यह कोई नवीन भाषा का अविष्कार नहीं अपितु सामान्य शब्दों का असामान्य प्रयोग है। धार्मिक भाषा शब्दों का प्रयोग लाक्षणिक एवं अलंकारिक रूप में करती है, और वह मिथक एवं दंतकथाओं के आधार पर कहानी प्रस्तुत करती है। अतः जो कुछ भी प्राकृतिक (नैसर्गिक) अनुभव में मनुष्य के लिए मूल्यवान, भव्य, जीवन—प्रद और कल्याणकारी प्रतीत होता है, उन्हीं पदों का लचीला प्रयोग अतीन्द्रिय सत्ता को निर्देशित एवं निरूपित करने के लिए किया जाता है। धार्मिक भाषा वस्तुतः प्रतीकात्मक होती है। यहाँ प्रत्येक प्रतीक (माता, पिता, प्रेम, प्रकाश इत्यादि) उनके शाब्दिक अर्थ का निषेध है और उसके स्वातिक्रमित अर्थ की स्वीकारोक्ति है। धार्मिक भाषा में प्रतीक की विशेष भूमिका यह है कि वह ऐन्द्रिक जगत् से दिव्य सत्ता के मार्ग प्रशस्ति को संभव बनाती है। ऐसी भाषा को यदि बुद्धिवादी अथवा भाववादी इस आधार पर चुनौती दें कि उसमें अलंकारों का प्रयोग हुआ है, एवं तार्किक अनुमान अथवा ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष ही एक मात्र सत् को जानने का साधन है तो ऐसी अभ्युक्ति कभी भी धार्मिक भाषा के साथ न्याय नहीं कर सकती।[22] धार्मिक भाषा एवं उसके ज्ञान की अपनी व्याख्या पद्धति है जो उसे वैज्ञानिक ज्ञान से अलग करती है। मूर्ति बल देते हैं चूँकि धार्मिक भाषा मूलतः प्रतीकात्मक हाती है, इस कारण वह खतरा एवं अपेक्षा को साथ—साथ प्रस्तुत करती है। खतरा यह है कि धर्म की भाषा बारम्बार शाब्दिक अर्थ में प्रयुक्त होकर अपने को दूषित करती जाती है

और इस तरह भाववाद सदैव उसके दरवाजे पर दस्तक देने को तैयार रहता है।[23] वर्तमान में सभी धर्मों में कट्टरतावाद का खतरा हमारे समक्ष है। धार्मिक भाषा द्वारा प्रस्तुत अपेक्षा ईश्वर अथवा अंतिम सत्ता को जानने की है, और यह अपेक्षा (मांग) प्रकृति अथवा अन्य मनुष्यों (यथा पिता, माता) के साथ संबंध की नहीं है, अपितु स्वयं के आंतरिक आकार से है जो कि धार्मिक भाषा के प्रतीकों एवं रूपकों से स्वतंत्र हो। यहीं दर्शन की विशेष भूमिका है। दर्शनशास्त्र धर्म से प्राप्त अंतर्दृष्टि को धारण करता है, किन्तु धर्म का जो प्रतीकात्मक एवं आकस्मिक आवरण है उसे वह अनावृत करता है। यह कार्य मूलतः निषेधात्मक है जो उपनिषद् के 'नेति–नेति' की भांति द्वन्द्वात्मक समीक्षा के अनुप्रयोग से ही सम्भव है। प्रतीकों के माध्यम से धार्मिक भाषा परम सत्ता का संबंधवाचक ज्ञान प्रदान करती है (तटस्थ–लक्षण) जो कि जगत् के साथ उसके संबंध से जुड़ा हुआ है। हमारे भीतर किन्तु परम सत्ता के आंतरिक स्वरूप को जानने (स्वरूप–लक्षण) की आकांक्षा होती है। यह ज्ञान धार्मिक भाषा के मनत्वारोपी (एंथ्रोपोमॉरफिक) पक्ष के निषेध की मांग करता है।

54 एच/1, म्योर रोड राजापुर,
प्रयागराज - 211002 (उ.प्र.)

संदर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *मूर्ति, टी.आर.वी., स्टडीज इन इण्डियन थाट : दी क्लेकटेड पेपर्स ऑफ टी.आर.वी. मूर्ति, संपा. हेराल्ड कॉवर्ड, नई दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, 1983, पृ. 378*
2. *वही, 381*
3. *भट्टाचार्य, के.सी., स्टडीज इन फिलासफी, खण्ड–2 कलकत्ता, कलकत्ता प्रोगेसिव पब्लिषर्स, 1958, पृ. 121–46*
4. *मूर्ति टी.आर.वी., दी सेन्ट्रल फिलासफी ऑफ बुद्धिज्म, नई दिल्ली, मुंशीराम मनोहरलाल, 2013, पृ. 339*
5. *मूर्ति टी.आर.वी., स्टडीज इन इन्डियन थॉट, पृ. 381.*
6. *मलकानी, जी.आर., आर.वी. दास एवं टी.आर.वी. मूर्ति, अज्ञान, लंदन, लुजाक एण्ड कंपनी, 1933, पृ. 169*
7. *वही, पृ. 194–95*

8. वही, पृ. 220
9. मूर्ति, टी.आर.वी., स्टडीज इन इन्डियन थॉट, पृ. 71
10. वही, पृ. 75
11. वही पृ. 177
12. शुक्ला, एस.के., इन्डियन फिलासफर्स ऑफ दी रीसेन्ट पास्ट, नई दिल्ली, इन्डियन काउन्सिल ऑफ फिलोसोफिकल रिसर्च (प्रकाशक) एन.डी.के. प्रिंटवर्ल्ड (सह–प्रकाशक), 2022, पृ. 140
13. मूर्ति, टी.आर.वी., स्टडीज इन इन्डियन थॉट, पृ. 191
14. वही, पृ. 194
15. शुक्ला, एस.के., इन्डियन फिलासफर्स ऑफ दी रीसेन्ट पास्ट, पृ. 143
16. मूर्ति, टी.आर.वी., स्टडीज इन इन्डियन थॉट, पृ. 358
17. वही, पृ. 361
18. वही पृ. 363
20. वही पृ. 369
21. वही पृ. 372
22. शुक्ला, एस.के., इन्डियन फिलासफर्स ऑफ दी रीसेन्ट पास्ट, पृ. 149
23. मूर्ति, टी.आर.वी., स्टडीज इन इन्डियन थॉट, पृ. 375

ध्यान की अपारंपरिक अवधारणा : जिद्दू कृष्णमूर्ति की दृष्टि

प्रियव्रत शुक्ल

ब्रह्मांडीय चिति से लेकर पिंडस्थ या मानवीय चेतना, उसके देहस्थ विभिन्न चक्र या संक्रेंद्रण,विविध आयाम व भूमियाँ,चित्त, अनुभूतियों के प्रकार,तद्गत वाक् के स्तर इत्यादि इतना कुछ है विचार के लिए; और कम से कम पारंपरिक निकायगत विचार क्रम में यह ध्यान के मूल्यवान केंद्रीय पक्ष से अछूता नहीं रहा है। परंपरागत रूप में देखें तो ध्यान और समाधि पर विचार करते हुए उनके तत्त्वमीमांसीय आधारों की अनदेखी सामान्यतः संभव नहीं प्रतीत होती। कभी कभी इसमें किंचित् रहस्यात्मकता या विलक्षण चमत्कारिक अनुभूतियों व क्षमताओं की उपलब्धि का समावेश भी हो जाता है। ध्यान की इष्ट, मंत्र या विषय–केन्द्रित और विषय या विचार–विहीन दोनों ही अवधारणाएँ परंपरा में उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार के ध्यान की परिकल्पना में गुरु या तत्त्वदर्शी पुरुष की भूमिका भी प्रायः स्वीकृत रही है। पुनः परंपरा से प्राप्त यह सिद्धान्त शास्त्रसम्मत भी रहा है। बहुधा संतमत में भी इसका उल्लेख मिलता है। योग परम्परा तो सहज ही इसकी प्रमुख व्याख्याकार और समर्थक रही है। किन्तु यह प्रायः अकल्पनीय समझ में आता रहा है कि परंपरा और लीक से हटकर, बिना शास्त्रसम्मत हुए और इष्टादि, किसी ज्ञात विषय, गुरु,मंत्रादि और विशिष्ट आसनादि के बिना ही जीवन में सहज और सतत ध्यान संभव है। इस ध्यान से जुड़ी 'धार्मिक मन' की उनकी अवधारणा भी स्थापित पारंपरिक धर्मों एवं धर्मगत आस्था से सर्वथा भिन्न और विशिष्ट है। कुल मिलकर, ध्यान को लेकर जिद्दू कृष्णमूर्ति की अवधारणा सर्वथा अनोखी और अभिनव है। प्रस्तुत आलेख में उनके एतद्प्रकारक अभिमत का विवेचन ही अभीष्ट है।

क्रांतदर्शी विचारक एवं दार्शनिक मनीषी जे. कृष्णमूर्ति ने मानव जीवन एवं उसकी अनुभूतियों, भावनाओं,उद्वेगों व चिंतन से जुड़े लगभग हर

उन्मीलन – वर्ष 37, अंक 2, जुलाई–दिसम्बर 2023
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

प्रियकर एवं अप्रियकर पक्ष पर अपना विश्लेषणात्मक विवेचन अपने संवादों तथा व्याख्यानों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। प्रारम्भ से ही वे अवधान की या होश की उस अवस्था एवं ध्यान के उस विशिष्ट प्रकार के हिमायती रहे हैं जो अन्यान्य मिथ्या मान्यताओं और अंततः ज्ञात विषयक विचार मात्र का परिसमापन कर सत्य को उद्घाटित कर सके और जो समस्त प्रकार के द्वंद्व, भय एवं दुःख से मुक्ति प्रदाता हो। इस क्रम में उनके द्वारा परंपरा से प्रचलित अनेक ध्यान प्रणालियों, एकाग्रता आदि का भी सूक्ष्म आलोचनात्मक विश्लेषण किया गया है। कृष्णमूर्ति के ध्यान विषयक विचारों एवं विश्लेषणों का एक बहुआयामी विवेचन उनके अनेक व्याख्यानों, वार्ताओं और ग्रन्थों में संग्रहीत है। एक शुद्ध धार्मिक मन और मौन की स्थिति की उपलब्धि में ध्यान की क्या भूमिका होती है, यह भी उनका प्रिय विवेच्य विषय रहा है।

प्राचीन काल से ही योग, ध्यान आदि भारत की दार्शनिक एवं धार्मिक परंपरा से गहरे जुड़े तत्त्व कहे जा सकते हैं। कतिपय नास्तिक चिंतन निकाय भी इसे किसी न किसी रूप में स्वीकार करते रहे हैं। किन्तु कृष्णमूर्ति के चिंतन में ध्यान की जो अवधारणा बतलाई गई है वह ध्यान एवं अवधान विषयक सभी पूर्ववर्ती अवधारणाओं से सर्वथा भिन्न एवं एक नवसृजन है। पारंपरिक या पहले के ध्यान से संदर्भित सभी विचार ध्यान को न्यूनाधिक रूप में किसी न किसी विषय, वस्तु, उपादान, दिव्य पुरुष, सद्गुरु, मंत्र आदि पर एकाग्रता के साथ ही निष्पादित होता मानते रहे हैं। कृष्णमूर्ति की प्रक्रिया ऐसी बिलकुल भी नहीं है। इस संदर्भ में उनका एक सूत्र वाक्य उनके ध्यान विषयक अग्रगामी चिंतन की पृष्ठभूमि को भलीभाँति प्रस्तुत करता प्रतीत होता है :

"ध्यान का अर्थ यह पता लगाना है कि क्या कोई ऐसा क्षेत्र है जो ज्ञात द्वारा दूषित नहीं हुआ है, अभी उससे अछूता है"।[1]

वस्तुतः ध्यान की अवधारणा सहित उनका सम्पूर्ण चिंतन ही 'ज्ञात' से मुक्ति का उद्घोष करता है। किन्तु ध्यान के लिए सजगता के वे सदा समर्थक रहे हैं। उनके अनुसार सजगता, समग्रता और ध्यान की त्रिवेणी को स्पष्ट किए बिना उनके चिंतन को समझ पाना प्रायः असंभव है। सामान्यतः हम खंडों खंडों में जीने के अभ्यस्त होते हैं, वहीं कृष्णमूर्ति चेतना के सभी तलों के प्रति समग्र भाव से सजग होने पर बल देते हैं। यह साक्षात–सत्यानुभूति या सत्यान्वेषण की अनोखी विधा है। यह आवश्यक है, जैसा कि

कृष्णमूर्ति कहते हैं कि हम चेतना के सम्पूर्ण क्षेत्र के प्रति समग्र रूप से सजग और सचेत हों, न कि केवल उसके एक खंड या अंश के प्रति। 'अगर आप इसकी समग्रता के प्रति सजग और सचेत हो पाएँ, तो इसका अर्थ यह हुआ कि आपका जीना और कार्य करना पूर्ण होश और ध्यान के साथ हो रहा है, केवल आंशिक ध्यान और होश के साथ नहीं'।[2] समग्र अवधान ध्यान का अनिवार्य और अभिन्न रूप है।

"Meditation is a state of mind which looks at everything with complete attention, totally, not just parts of it".[3]

ध्यान से सम्पन्न मन सर्वथा शांत या मौन होता है। इस मौन के उद्भव के साथ ही विचारों और उससे संयुक्त शब्दों, प्रतिमाओं आदि का भी लोप हो जाता है। इसी मौन समन्वित ध्यान से सम्पन्न मन को कृष्णमूर्ति एक 'धार्मिक मन' की संज्ञा देते हैं।[4] ध्यानपूर्ण मन और धार्मिक मन सर्वथा समान या पर्याय हैं। यह धार्मिक मन न तो किन्हीं इष्ट, पवित्र शास्त्र, उपासना स्थल आदि से सम्बद्ध होता है और न ही तत्संबंधी किन्हीं धार्मिक आचार या कर्मकांड आदि से। धार्मिक मन हमारे समग्रता या सभी तलों से जुड़े अवधान और सजगता का द्योतक है। यहाँ जिस धर्म के संदर्भ में ध्यानपूर्ण मन को धार्मिक मन कहा जा रहा है वह पारंपरिक धर्म या धर्मों की किसी सामान्य अवधारणा का द्योतक नहीं हैं। इस परिप्रेक्ष्य में कृष्णमूर्ति का कथन द्रष्टव्य है।

"संसार भर में बहुत से धर्म ऐसा कहते रहे हैं कि एक चिरस्थाई, शाश्वत सत्य का वजूद है, लेकिन सत्य का महज कोई दावा करना खास मायने नहीं रखता। हर किसी को इसकी खोज बीन खुद ही करनी होती है, सैद्धान्तिक,बौद्धिक अथवा भावनात्मक तौर पर नहीं, अपितु उसे यथार्थ रूप से यह मालूम करना होता है कि क्या यह जीवन एक ऐसे विश्व में जिया जा सकता है जो पूरी तरह से सत्य से युक्त हो। धर्म से हमारा आशय है सारी ऊर्जा को एक साथ लाकर किसी तत्त्व का अनुसंधान करना। यह अनुसंधान कि क्या कुछ ऐसा है, जो पावन है, पवित्र है। यहाँ उस धर्म का जिक्र नहीं हो रहा है जो विश्वासों, मत–सिद्धांतों, परम्पराओं या रीति रिवाजों का धर्म है, जो उच्च और निम्न के नजरियों में बंटा है। हम 'धर्म' शब्द का प्रयोग इस अर्थ में कर रहे हैं। समस्त ऊर्जा को इकट्ठा करना, जो तब यह तहकीकात करने में समर्थ होगी कि क्या ऐसा कोई सत्य है जिसे विचार द्वारा नियंत्रित

न किया जा रहा हो, जिसे विचार द्वारा आकार न दिया गया हो, प्रदूषित न किया गया हो" ।[5]

धार्मिक मन धर्म की देन नहीं है न ही किसी धर्म विशेष पर आस्था का प्रकार या विषय है, अपितु यह ध्यान की अवस्था का सहज प्रतिफलन है; बल्कि उसका ही स्वरूप है। धार्मिक मन को हम ध्यान की समग्रता के परिप्रेक्ष्य में ही समझ सकते हैं। धार्मिक मन में एक ऐसा मौन होता है जो किसी विचार से जनित या प्रेरित न होकर सत्य के प्रति चेतना के सभी स्तरों या तलों की सजगता का द्योतक अथवा उसी का सहज परिणाम है। वास्तव में सजगता से मौन का जन्म होता है। विचार द्वारा जबरन पैदा किया गया मौन तो एक शव की जड़ता के समान है' ।[6] इसे यदि किसी भी पारंपरिक विश्वास और विचार समुदाय से परे माने तो उचित होगा। इसमें ज्ञात के प्रति निष्ठा अपेक्षित नहीं है, बल्कि आवश्यक यह है कि ज्ञात के प्रति, पारंपरिक विश्वास के प्रति मुक्ति की स्थिति सृजित हो जाए। यह बंधनकारी न होकर साक्षात मुक्ति का परिचायक है। परम्पराओं का बंधन हमें कभी भी धार्मिकता के उस सत्य से परिचित नहीं होने देता जो साक्षात ध्यान की स्थिति में उपलब्ध होता है। कृष्णमूर्ति कहते हैं :

"The religious mind is something entirely different from the mind that believes in religion. You cannot be religious and yet be a Hindu, a Muslim, a Christian, a Buddhist. A religious mind does not seek at all, it cannot experiment with truth. Truth is not something dictated by your pleasure or pain, or by your conditioning as Hindu or whatever religion you belong to. The religious mind is a state of mind in which there is no fear and therefore no belief whatsoever but only what is what actually is."[7]

यह धार्मिक या ध्यानपूर्ण मन ही वस्तुतः मानव जीवन के विविध मार्मिक और यथार्थ प्रश्नों यथा भय, द्वंद्व, संबंध, प्रेम, मृत्यु आदि के तल तक पैठ कर पाता है और उनके समुचित विश्लेषण एवं हमारी उनके प्रति सटीक समझ को संभव बना पाता है। कृष्णमूर्ति ने इन सभी प्रश्नों एवं मौलिक समस्याओं को एक एक कर संवाद शैली में विशद विश्लेषण के माध्यम से स्पष्ट किया है। संभवतः इसीलिए कृष्णमूर्ति जी के अनेक विचार–विमर्श व संवादों को 'मेडिटेशन्स' नाम भी दिया गया है।

ध्यान या अवधान काम्य उद्देश्य,निरी आस्था और रुचि के कारण किसी वस्तु या विषय में मग्न होना भी नहीं है। बालकों और प्रौढों, दोनों में ही,कृष्णमूर्ति खिलौनों के अस्थायी प्रभाव का उदाहरण देकर, इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं।

"खिलौना बालक की रुचि को आकर्षित करता है, वह उसके मन को अपने में समा लेता है, और बच्चा अब चुप है, अस्वस्थ नहीं है, किंतु खिलौना ले जाइए, और वह फिर से अस्वस्थ होता है, रोता है–खिलौने महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं, क्योंकि वे उसे चुप करके रखते हैं। यही बात प्रौढों की भी। उनके खिलौने ले चलिए, क्रियाकलाप, मान्यताएँ, महत्त्वाकांक्षा, सत्ता – स्पृहा, देवता या राज्य की पूजा, किसी उद्देश्य का समर्थन; इन्हें हटाइए और वे भी अशांत, खोये हुए, संभ्रमित हो जाते हैं, इसलिए प्रौढों के खिलौने भी महत्त्वपूर्ण बन बैठते हैं–खिलौना तो चित्त का विक्षेप है–खिलौना अहं महत्त्व का बनता है, और न कि मन जिसे खिलौने ने अपने में आकर्षित कर लिया। अवधान को देखने के लिए हमें मन की स्थिति को देखना होगा, न कि मन के खिलौनों को"।[8]

इस प्रकार, मन की आस्था और रुचि को आकर्षित करने वाली वस्तु या विषय महज उस खिलौने जैसी ही है, चाहे वह कोई 'महागुरु होगा, किसी की छवि हो या अन्य कोई प्रतिमा, हाथ की या मन की गढ़ी हुई'। एतद् प्रकार के खिलौने सदृश विषयों पर रखी जाने वाली मन की आस्था को कृष्णमूर्ति एकाग्रता[9] कहते हैं, जो वस्तुतः ध्यान तो नहीं है। आगे हम एकाग्रता और ध्यान के इस पार्थक्य को भी कृष्णमूर्ति जी के मतानुसार स्पष्ट करेंगे।

सामान्य मान्यता के रूप में देखें तो प्रायः ध्यान और एकाग्रता में आवश्यक संबंध बतलाया जाता है। किन्तु यदि हम कृष्णमूर्ति की चिंतन प्रणाली के परिप्रेक्ष्य में समझना चाहें तो एकाग्रता की यथार्थ घटना के विश्लेषण से कुछ और ही निष्कर्ष निकलता है। यदि मेरी रुचि किसी प्रतिमा, चित्र या धारणा पर एकाग्र होकर ध्यान करने में है तो मैं देखता हूँ कि इतर वस्तुओं या विषयों आदि का बहिष्करण करना आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः धारणा या प्रतिमा आदि पर केन्द्रित एकाग्रता स्थापन में अपेक्षित अन्य के प्रति बहिष्करण रूपी यह आवश्यक प्रतीत होने वाली प्रक्रिया ही ध्यान लगाने का साधन मान ली जाती है। इस प्रविधि से ध्यान करने के

दौरान मेरा मन या चित्त लगातार इसी समस्या से जूझने में व्यस्त हो जाता है कि किस प्रकार अध्यातव्य वस्तुओं या विषयों का सफलता पूर्वक बहिष्कार किया जा सके ताकि उस वस्तु या विषय का ध्यान पूरे तौर पर संभव हो जाए जिस पर मैं प्रथमतः एकाग्र हो रहा था। इस प्रकार के ध्यान में मैं इस तथ्य पर भी गौर नहीं करता कि ध्यातव्य या एकाग्रता का विषय बन रही प्रतिमा, चित्र आदि में मेरी रुचि है या नहीं। कृष्णमूर्ति के अभिमतानुसार यह ध्यान नहीं है।

"यदि आप अपने चुने हुए विचार पर, किसी एक विशेष लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित कर सकें, तो आप समझते हैं कि अंततः आप अपने ध्यान में सफल हो गए। निस्संदेह यह ध्यान नहीं है, ध्यान कोई बहिष्कार की प्रक्रिया नहीं है, अतिक्रमण करने वाली धारणाओं का प्रतिरोध कर उन्हें दूर हटाने की प्रक्रिया ध्यान नहीं है। बहिष्करण के रूप में एकाग्रता भी ध्यान नहीं है"।[10]

कृष्णमूर्ति प्रार्थना और एकाग्रता दोनों ही अवधारणाओं का विश्लेषणात्मक परीक्षण करने के उपरांत स्पष्ट करते हैं कि क्रमशः ध्यान न तो अनुनय, निवेदन आदि हो सकता, न ही यह बहिष्करण है। एकाग्रता के संदर्भ में किए जाने वाला अपरिहार्य बहिष्करण मानसिकता को अशांत करता है एवं अनेक उपद्रव या संघर्ष की स्थितियों को उत्पन्न करता है। यह प्रशांति का जनक तो कभी नहीं हो सकता। प्रतिरोध कर अन्य या अध्यातव्य को बहिष्कृत करने में हमारी सारी ऊर्जा व्यय हो जाती है। ध्यान के लिए तो चेतना के अवधान का अवकाश ही शेष नहीं रहता। ध्यान तो वस्तुतः एक ऐसी 'समझ' है जिसमें शांति और स्वतन्त्रता होती है। यह समझ अंततः मुक्त भी कर देती है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्ति कहते हैं।

"समझ ध्यान का आधार है, ध्यान की मूलभूत प्रक्रिया है। यदि आप प्रार्थना और एकाग्रता का सावधानी से परीक्षण करेंगे तो आपको पता चलेगा कि इनमें से कुछ भी समझ नहीं ला सकता। इनका परिणाम केवल दुराग्रह, दृढ़ता और भ्रम है। जबकि ध्यान में, जिसमें बोध होता है, स्वतन्त्रता, स्पष्टता और समग्रता आती है"।[11]

किसी वस्तु या विषय को सीधे सीधे मात्र ऊपरी तौर पर समझ लेना ही कृष्णमूर्ति द्वारा अनुशंसित ध्यान के सम्पूर्ण भाव को स्पष्ट नहीं करता। वस्तुतः यह प्रक्रिया एक गहन विश्लेषण का विषय है। यह समझ तभी समग्र प्रबोध की ओर अग्रसर होती है जब यह 'स्वबोध' या 'self-

knowledge' की गहनता से संपृक्त होती है। यहाँ स्वबोध शब्द अत्यंत गहन है। इसके निहितार्थ चेतना की सभी सतहों , भावना और विचार की प्रत्येक गति के प्रति सजगता और गहराई में छिपी अन्यान्य अव्यक्त क्रियाओं, अभिप्रायों, अनुक्रियाओं आदि के जानने को भी समाहित करते हैं। कृष्णमूर्ति के मूल शब्दों में ध्यान के इस गहन पक्ष को इस प्रकार समझा जा सकता है :

"The beginning of meditation is self&knowledge, which means being aware of every movement of thought and feeling, knowing all the layers of my consciousness, not only the superficial layers but the hidden,the deeply concealed activities."[12]

स्व या आत्म से संदर्भित सभी आयामों को बिना अच्छे से एवं सजगता पूर्वक समझे हम ध्यान की प्रक्रिया का प्रारम्भ नहीं कर सकते। उल्लेखनीय है कि हमारे स्व को समझने में हमें न तो गुरु और धार्मिक आदि अनुदेशों और परम्पराओं का सहारा लेना है और न ही किसी मनोवैज्ञानिक के पूर्व निर्धारित मापदंड का। यह समझ हमें खुद ही हासिल करनी है अपने समग्र रूप से सभी तलों के प्रति सतत सजगता के द्वारा। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार के ध्यान में हमारा अस्तित्व संपूर्णता के साथ संलग्न हो जाता है। ध्यान में स्व के सम्पूर्ण का निमज्जन तो तभी संभव है जब उस सम्पूर्ण के प्रति हमारी समझ स्थापित हो जाए। ध्यान के लिए स्व के ज्ञान को अपरिहार्य तथा ध्यान से भी अधिक आवश्यक एवं प्राथमिक निरूपित करते हुए कृष्णमूर्तिकहते हैं :

'---without knowing myself completely I have no basis for any action- If I don't know myself and am confused, whatever action I take must lead to further confusion. So I must know myself. I must profoundly find out the structure of my nature. I have to see the scaffold of my activities, the patterns in which I function, the lines which I follow, the directions which I have established for myself or society. I have to understand this drive which makes me do things consistently or contradictorily. To understand all these problems about whether there is a God, whether there is truth, what meditation is, who is the meditator—

which is much more important than meditation—I must know myself completely".[13]

लेकिन जब मैं खुद की ओर सजग होता हूँ या स्वयं का निरीक्षण करता हूँ तो स्वयं को स्वतंत्र रूप में जैसा हूँ वैसा नहीं देख पाता। अनेक पूर्वग्रह आदि मेरी स्वतन्त्रता को बाधित करते हैं। मेरी स्थिति ऐसी होती है मानो मैंने रंगीन चश्मा पहन रखा हो। इन बाधाओं या रुकावटों को कृष्णमूर्ति ऐसी 'कन्डीशनिंग' कहते हैं जिनसे मेरा मुक्त होना आवश्यक है तभी मैं स्वयं को यथातथ्य देख सकूँगा :

"I have to do is to observe myself, read the book which is myself. How I am to read, how am I to observe so clearly that there is no impediment\ I may have coloured glasses, I may have certain prejudices, certain conclusions which will prevent me from looking at myself and seeing all that is implied in looking at myself. So what shall I do\ As I am conditioned I cannot look at myself in complete freedom, therefore, I must be aware of my conditioning."[14]

जब तक मेरा मन (माइंड) स्वतंत्र नहीं होता तब तक मैं स्वयं को पूर्णता और स्वतन्त्रता के साथ नहीं देख सकता। मेरी शिक्षा और मेरे पूर्व अनुभव भी इसमें बाधा बनते हैं। इसके लिए भूत से इसकी मुक्ति आवश्यक है। कृष्णमूर्ति मानते हैं कि मन तभी मुक्त होता है जब वह अपने अनुभवों से, ज्ञान,अहंमन्यता, मत्सर आदि से संस्कार बद्ध नहीं रह जाता। ध्यान इन सभी से मुक्ति का जनक है, 'सभी अहं केन्द्रित क्रियाओं के प्रभावों से परे निकलना'।[15] परंपरा, परिपाटी, शिक्षा, दीक्षा, धार्मिक संस्थान, परिवार आदि के प्रभाव से अर्जित किसी भी संस्कार–बद्धता या 'कन्डीशनिंग' से निकलना आवश्यक है। इसके लिए भी सजगता ही श्रेष्ठ उपाय है। इस सजगता को भी कृष्णमूर्ति ध्यान ही बतलाते हैं,'इन तमाम प्रभावों के प्रति सजग होना और इनसे मुक्त होना ही ध्यान की प्रक्रिया है'।[16]

ध्यान के लिए हमारे मन और विचारों की क्या स्थिति अपेक्षित है और इस विषय में हमारी समझ, सजगता और सतर्कता की क्या भूमिका हो सकती है, इस विषय पर भी कृष्णमूर्ति के विचार नितांत मौलिक हैं। मन का अतिशय सतर्क होना और जीवन की समग्रता की समझ का होना ध्यान के

लिए सर्वथा आवश्यक है। वे स्पष्ट करते हैं कि विचारों का नियंत्रण करना ध्यान नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार का नियंत्रण हमारे मानस पटल पर हमेशा संघर्ष और द्वंद्व उत्पन्न करता है। अपितु विचार के समुचित परिसमापन के लिए यह रास्ता उचित है कि विचार की उत्पत्ति और उसकी संरचना या ढांचे को समझ लिया जाए जिससे विचार या विचारों का हस्तक्षेप स्वतः समाप्त हो जाए। कृष्णमूर्ति के अनुसार, यह कार्य भी ध्यान की प्रक्रिया के अंतर्गत गण्य है।[17] बिना औचित्य विचार के भूत एवं परंपरा से सम्बद्ध स्मृति आधृतविचारों और आस्थाओं की अपेक्षा हमारे मानस में सतत उठने वाले प्रत्येक विचार और भाव के प्रति हमारी सजगता या जागरूकता ही हमारी ध्यान की प्रकृति को निर्धारित करती है। कृष्णमूर्ति कहते हैं :

"Meditation is to be aware of every thought and every feeling, never to say it is right or wrong but just to watch it and move with it. In that watching you begin to understand the whole movement of thought and feeling. And out of this awareness comes silence. Silence put together by thought is stagnation, is dead, but the silence that comes when thought has understood its own beginning, the nature of itself, understood how all thought is never free but always old--this silence is meditation in which the meditator is entirely absent, for the mind has emptied itself of the past"[18]

ध्यान और उससे अपरिहार्य रूप में संबन्धित स्व का बोध और सजगता से सम्यक चिंतन और सम्यक या उचित कर्म भी आवश्यक रूप से निःसृत होते हैं। वस्तुतः, कृष्णमूर्ति के अनुसार वे स्वबोध के कारण ही संभव हैं। स्वबोध के बिना प्रार्थना का भी कोई अर्थ नहीं।[19] सम्यक चिंतन और सम्यक कर्म हमारे जीवन के आवश्यक संघटक हैं। इस प्रकार ध्यान कोई ऐसी क्रिया नहीं है जो हमारे दैनंदिन के व्यवहार से अलग–थलग या ऐकांतिक मात्र हो। यह हमारे सर्व समावेशी अस्तित्व बोध का व्यावर्तन और विच्छेदन नहीं करती। जिस प्रकार ध्यान समग्रता की अपेक्षा करता है उसी प्रकार उसके प्रभाव भी समग्र क्षेत्रों में अभिव्यक्त होते हैं।

कृष्णमूर्ति ध्यान और प्रेम के मध्य भी अत्यंत मधुर संबंध निरूपित करते हैं। उनके चिंतन में ध्यान किसी भी प्रकार से कोई नीरस या रूक्ष

अवस्था या प्रक्रिया नहीं है और न ही इसका कोई एक निश्चित परिक्षेत्र निर्धारित है। दूसरी ओर, विपरीततः, जैसा कि हम परंपरागत रूप में देखते आए हैं, ध्यातव्य का इष्ट के रूप में, प्रायः दिव्यत्व के सहकार के साथ पूर्व से ही निर्धारण या निर्देशन होता रहा है। कृष्णमूर्ति ध्यान की समझ में ही प्रेम का उदय देखते हैं। ध्यान से मौन, और उसी मौन में प्रेम की अनूठी अभिव्यक्ति। उन्हीं के शब्दों में :

"In the understanding of meditation there is love, and love is not the product of systems, of habit, of following a method. Love cannot be cultivated by thought. Love can perhaps come in to being when there is complete silence, a silence in which the meditator is entirely absent; and mind can be silent only when it understands its own movement as thought and feeling."[20]

वस्तुतः 'प्रेम का प्रस्फुटन ही ध्यान है'।[21] कृष्णमूर्ति के मतानुसार, 'ध्यान मन के भीतर की वह ज्योति है जो क्रिया के मार्ग को आलोकित करती है, और इस ज्योति के बिना प्रेम का कोई अस्तित्व नहीं है'।[22]

ध्यान और स्व बोध या अपने प्रति समझ का तो अपरिहार्य संबंध है ही, कृष्णमूर्ति ध्यान के सफल होने के लिए कुछ और भी आवश्यक मानते हैं जिसे हम 'सम्यक व्यवहार' कह सकते हैं :

"यह समझने के लिए कि ध्यान क्या है, सम्यक व्यवहार की नींव रखी जानी जरूरी है। उस नींव के बिना ध्यान वास्तव में आत्म–सम्मोहन का ही रूप है। क्रोध, ईर्ष्या, डाह, लोभ, स्वामित्व, घृणा, स्पर्धा, सफलता की चाह से–और ऐसे ही सही ठहरा दिए गए तमाम नैतिक व सम्मानित लक्षणों से करमुक्त हुए बिना, सही नींव रखे बिना, व्यक्तिगत भय, चिंता, लालच और इस तरह की तमाम विकृतियों से वस्तुतः मुक्त जीवन जिए बिना, ध्यान का कुछ खास मतलब नहीं है"।[23]

उक्त संदर्भ में हम यह मान सकते हैं कि ध्यान की भी कुछ पूर्वापेक्षाएं हैं जो मानव के सम्यक व्यवहार में निहित हैं। किन्तु यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ध्यान की एक पूर्वापेक्षा ऐसी 'स्वतन्त्रता' भी है जो सामाजिक नैतिकता और तद्गतमूल्यों का निषेध भी करती है। पुनः,'मत विशेष पर आस्था और विश्वास' एक ऐसा अनुबंध था जो हमारी ध्यान विषयक पारंपरिक अवधारणाओं में प्रायः अपेक्षित और सुसंगत माना जाता

था; कृष्णमूर्ति को यह कथमपि स्वीकार्य नहीं है। उनके मतानुसार,'विश्वास और मतांधता में जकड़ा व्यक्ति ध्यान के आयाम में कभी प्रवेश नहीं कर पाता, वह चाहे जो करता रहे। ध्यान के लिए स्वतन्त्रता अनिवार्य है। ऐसा नहीं है कि पहले ध्यान और उसके बाद स्वतन्त्रता; बल्कि स्वतन्त्रता सामाजिक नैतिकता और मूल्यों का पूर्ण निषेध ध्यान की प्राथमिक गतिशीलता है। विचार की इस समस्त संरचना का पूर्ण निषेध ही ध्यान की विधायकता है" ।[24]

अंततः यह स्पष्ट है कि कृष्णमूर्ति ने ध्यान विषयक विचारक्रम में ज्ञात परंपरा से हटकर एक ऐसी नितांत नवीन अवधारणा का सृजन किया है जिसे अवधान और निष्ठा हेतु भूत अथवा किसी परंपरा और शास्त्र से निर्धारित विषयवस्तु अथवा संप्रेरक व्यक्तित्व की अपेक्षा नहीं होती और जो फिर भी मानवीय चेतना के सभी तलों को समग्रता से अज्ञात और अभिनव की ओर लक्षित ध्यान की सहज एवं सतत प्रक्रिया में सम्मिलित करती है। ध्यान के अन्वेष्य या लक्ष्य की संप्राप्ति के लिए सर्वोत्तम वह है जो एक 'धार्मिक व्यक्ति' है किन्तु यहाँ धार्मिक व्यक्ति होने का निहितार्थ सर्वथा विशिष्ट है और उसी में कृष्णमूर्ति जी का मंतव्यभी स्पष्ट हो जाता है।

"So the mind that is capable of saying, 'I do not know' is in the only state in which anything can be discovered. The religious man is he who does not belong to any religion, to any nation, to any race, who is inwardly completely alone, in a state of not-knowing, and for him the blessing of the sacred comes into being."[25]

दर्शन स्नातकोत्तर अध्ययन एवं शोध विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (मध्यप्रदेश)

संदर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *कृष्णमूर्ति,जे.,ध्यान (Meditations का हिन्दी अनुवाद, अनुवादक हरीश एवं शक्ति), राजपाल एंड संस, दिल्ली, 2019, पृष्ठ 37*
2. *कृष्णमूर्ति,जे., ज्ञात से मुक्ति, (Freedom from the Known का हिन्दी अनुवाद, अनुवादक हरीश) कृष्णमूर्तिफाउंडेशन, वाराणसी, 2012, पृष्ठ 29*
3. *कृष्णमूर्ति,जे.,Freedom from the Known, राइडर, लंदन , 2010, पृष्ठ 121*
4. *कृष्णमूर्ति,जे.,ध्यान, पृष्ठ 9*

5. कृष्णमूर्ति,जे.,सत्य और यथार्थ, (Truth and Actuality का हिन्दी अनुवाद, अनुवादक उमेश मोहन सकलानी) राजपाल एंड संस, दिल्ली, 2015, पृष्ठ 144–5
6. कृष्णमूर्ति,जे., ज्ञात से मुक्ति, पृष्ठ 145
7. कृष्णमूर्ति,जे., Freedom from the Known, पृष्ठ 123–4
8. कृष्णमूर्ति,जे.,जीवन भाष्य (Commentaries on Living का हिन्दी अनुवाद, अनुवादक इन्दुटिकेकर), तृतीय खंड, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 2018, पृष्ठ 164
9. वही
10. कृष्णमूर्ति,जे., प्रथम और अंतिम मुक्ति (The First and Last Freedom का द्विभाषी संस्करण, डा. दयाल शरण वर्मा द्वारा हिन्दी में अनुवादित), कृष्णमूर्ति फाउंडेशन, वाराणसी, 2006, पृष्ठ 427
11. वही, पृष्ठ 427–9
12. वही, पृष्ठ 428–430
13. कृष्णमूर्ति,जे., The Impossible Question, पेंगुइनबुक्स, लंदन, 1978, पृष्ठ 88–9
14. वही, पृष्ठ 89–90
15. कृष्णमूर्ति,जे., जीवन भाष्य, तृतीय खंड, पृष्ठ 162
16. कृष्णमूर्ति,जे.,ध्यान करने वाला कौन है? कृष्णमूर्तिफाउंडेशन इंडिया, वाराणसी, 2018, पृष्ठ 4
17. कृष्णमूर्ति,जे., ज्ञात से मुक्ति, पृष्ठ 145
18. कृष्णमूर्ति,जे., Freedom from the Known, पृष्ठ 120
19. "Meditation is self&knowledge and without self-knowledge there in no meditation. If you are not aware of all your responses all the time, if you are not fully conscious, fully cognizant of your daily activities, merely to lock yourself in a room and sit down I front of a picture of your guru, of your Master, to meditate, is an escape, because without self-knowledge there is no right thinking and, without right thinking, what you do has no meaning, however noble your intentions are. Thus prayer has no significance without self-knowledge but when there is self-knowledge there is right thinking and hence right action. When there is right action, there is no confusion and therefore there is no supplication to someone else to lead you out of it. A man who is fully aware is meditating; he does not pray, because he does not want anything. (कृष्णमूर्ति,जे., The First and Last Freedom, पृष्ठ 430–32)

20. कृष्णमूर्ति,जे., *Freedom from the Known*, पृष्ठ 121
21. कृष्णमूर्ति,जे.,ध्यान, पृष्ठ 57
22. वही, पृष्ठ 43
23. वही, पृष्ठ 90
24. वही, पृष्ठ 150
25. कृष्णमूर्ति,जे., *The Book of Life, Penguin Random House India*, 2019, वार्ता क्रम दिसंबर 19 (पुस्तक में कहीं भी कोई पृष्ठ उल्लिखित नहीं)

वैश्विक संकट और गांधीय विकल्प की प्रासंगिकता

कमलनयन, रामनारायण मिश्र

महात्मा गांधी के जीवन–दर्शन की प्रासंगिकता को लेकर प्रश्न उनके जीवित रहते ही उठने लगे थे। कुछ अपवादों को छोड़कर, उनके अनुयायी– जिनमें पंडित नेहरू और सरदार पटेल भी शामिल हैं – भी उनसे सहमत नहीं थे। यहाँ तक कि उनके राजनितिक गुरु गोपालकृष्ण गोखले ने भी गांधी के हिन्द स्वराज को खारिज कर दिया था। गांधीजी की प्रासंगिकता के प्रश्न का उत्तर उनकी जीवन–दृष्टि में निहित है जिसका प्रतिपादन उन्होंने वर्तमान सभ्यता के एक साभ्यतिक विकल्प के रूप में अपनी मौलिक कृति हिन्द स्वराज में किया है। क्या गांधीय विकल्प जिसे सामान्यतः अव्यावहारिक कहकर नकार दिया जाता है, उस पर आज विश्वव्यापी हो गई पश्चिमी सभ्यता के विकल्प के रूप चर्चा करने का कोई अर्थ बनता है? यहाँ तक कि भारत में गांधीवादियों में भी कुछ को छोड़कर शेष सभी गांधी द्वारा प्रस्तुत साभ्यतिक विकल्प को अव्यावहारिक ही मानते हैं। हालांकि उनमें से बहुत से सत्य, अहिंसा आदि को जीवन में उतारने के पक्षपाती हैं।

औद्योगिक सभ्यता के विनाशकारी परिणाम तो 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पूरी तरह से उजागर हो चुके थे। उस समय बहुत से विचारकों ने औद्योगिक तंत्र के मानव और पर्यावरण के प्रति हिंसात्मकता के कारण उत्पन्न खतरों के प्रति विश्व को, खासकर विकसित देशों को आगाह किया था।[1] आज भी बैरी कॉमनर जैसे बहुत बड़ी संख्या में पर्यावरणविद् और विचारक वैकल्पिक टेक्नोलाजी (alternative technology) के तरफदार हैं।[2] 1973 में स्थापित 'ग्रीन पीस मूवमेंट' आदि पर्यावरण संरक्षण और ग्रीन टेक्नोलॉजी के प्रति समर्पित है। भारत में सेंटर फॉर सांयंस एण्ड एन्वायरनमेंट, इंटरनेशनल फोरम फॉर सस्टेनेबिलिटी एण्ड टैक्नोलॉजी एवं गांधीवादी स्वयंसेवी संस्थायें भी पर्यावरण संरक्षण को समर्पित संस्थायें हैं।

ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

औद्योगिक सभ्यता के विरुद्ध उठने वाली सशक्त आवाजें, महात्मा गांधी के अपवाद को छोड़कर, पहले पहल औद्योगिक सभ्यता की जननी पश्चिमी सभ्यता के भीतर से ही उठीं। भारत में भी डिवैलपमैंट ऑल्टरनेटिव्ज़ जैसी वैकल्पिक टैक्नोलॉजी की समर्थक संस्थायें सक्रिय हैं। किन्तु ये सभी मूलतः औद्योगिक सभ्यता की पर्यावरण के प्रति हिंसकता और नॉन–रिन्यूऐबल संसाधनों पर आश्रितता के विरोधी हैं। इन सबका आग्रह अहिंसात्मक अर्थव्यवस्था की स्थापना पर है। यहाँ यह प्रश्न उठना लाज़िमी है कि क्या टेक्नोलॉजी में बदलाव और इस बदलाव के माध्यम से आर्थिक उत्पादन के साधनों में बदलाव सांस्कृतिक अथवा साभ्यतिक दृष्टि में बदलाव के बिना संभव है?वास्तव में तो समस्त व्यवस्थाएं – आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि – सांस्कृतिक/साभ्यतिक दृष्टि की ही अभिव्यक्तियाँ होती है। यह दृष्टि ही सभ्यता को रूप देती है। व्यवस्थाओं में परिवर्तन से दृष्टि में परिवर्तन नहीं अपितु दृष्टि में परिवर्तन से व्यवस्थाओं में परिवर्तन घटित होते हैं। इसे समझने के लिए पश्चिम में जिस दृष्टि के उदय के परिणामस्वरूप वहाँ साभ्यतिक रूपांतरण घटित हुए, उन पर हम संक्षेप में चर्चा करेंगे। इस चर्चा के माध्यम से न केवल हम औद्योगिक सभ्यता की प्रकृति अथवा स्वभाव को समझ सकेंगे बल्कि गांधीजी द्वारा प्रस्तुत इस सभ्यता के विकल्प की आवश्यकता और प्रकृति को भी परिप्रक्ष्य प्रदान कर सकेंगे।

योरप में 16वीं शताब्दी तक विश्व एक प्राणवान, आंतरिक संगति में आबद्ध एक आध्यात्मिक अवयवी (इकाई) के रूप में कल्पित था। 16वीं–17वीं शताब्दी में एक वैचारिक क्रान्ति घटित हुई जिसे वैज्ञानिक क्रान्ति कहा जाता है।[3] इसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि अब प्रकृति को, इस विश्व की एक दैवीय तत्त्व से संपन्न कल्पना को, विश्व की एक मशीन के रूप में कल्पना ने अपदस्थ कर दिया। मध्यकालीन वैज्ञानिकों का उद्देश्य प्राकृतिक जगत् में अन्तर्निहित प्रयोजनों की खोज था और ईश्वर, आत्मा और नैतिकता विषयक प्रश्न उनके लिए महत्त्वपूर्ण थे। इस वैज्ञानिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप ये अर्थहीन हो गये। वैज्ञानिक क्रान्ति के विस्तार में न जाकर इतना कहना पर्याप्त होगा कि अब प्रकृति के प्रति मनुष्य की दृष्टि पूर्णतया रूपांतरित हो गई। ज्ञान की इन्द्रिय–प्रत्यक्ष पर आधारित अनुभववादी पद्धति और प्रकृति का गणितीय भाषा में निरूपण, ये दोनों 17वीं शताब्दी में विज्ञान का आधार बन गये। परिणामस्वरूप प्रकृति एक प्राणवान

और चेतन समष्टि के स्थान पर आकृतियों, संख्याओं और गतियों के निर्जीव पसारे में रूपांतरित हो गई। इसी प्रकार इंग्लैण्ड में बेकन वैज्ञानिक अनुभववाद का सूत्रपात कर रहे थे। उन्होंने वैज्ञानिक अनुसंधान को, अन्वेषण के स्वभाव और पद्धति को पूर्णतया बदल दिया। प्रकृति के प्रति इस दृष्टिकोण को पूरी तरह से स्थापित कर देने वाली दो विभूतियाँ हैं – डेकार्ट और न्यूटन। डेकार्ट ने 17वीं शताब्दी में विज्ञान के लिए सैद्धांतिक ढांचा प्रतिपादित किया, किन्तु उनका यह विचार अथवा मत कि प्रकृति गणितीय नियमों से परिचालित एक सम्पूर्ण मशीन है, उनके जीवन काल में एक विचार मात्र ही रहा। वे बस अपनी प्राकृतिक–जगत विषयक सिद्धांत की रूपरेखा ही बना पाये थे। इस डेकार्तीय अथवा कार्टीसियन कल्पना को चरितार्थ करने और वैज्ञानिक क्रान्ति को पूर्ण करने का श्रेय न्यूटन को जाता है।[4]

प्राकृतिक रहस्यों की खोज और उनके गणितीय प्रतिपादन में न्यूटन की सफलता ने गणित पर आधारित भौतिकशास्त्र (फिज़िक्स) को ज्ञान के सभी प्रस्थानों के ज्ञानादर्श (पैराडाईम ऑफ नॉलेज) के रूप में स्थापित कर दिया। यहाँ तक कि 18वीं शताब्दी के विचारकों द्वारा न्यूटनीय यांत्रिकी (न्यूटोनियन मैकेनिक्स) के सिद्धांतों को मानव विज्ञानों में भी अपना लिया गया। न्यूटन के जगत् विषयक सिद्धांतों और तर्कबुद्धिवाद (रैश्नेलिज़्म) की लोकप्रियता और सर्वमान्यता के कारण 18वीं शताब्दी 'ज्ञानोद्दीप्ति' का युग (ऐज ऑफ एन्लाईटनमेंट) कहलाती है। यह योरोपीय प्रज्ञा में एक नया उन्मेष लेकर आई। न्यूटन की प्रिन्सिपिया मैथेमैटीका से जिस वैज्ञानिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ उसने ज्ञानादर्श (पैराडाइम ऑफ नॉलेज) को पूर्णतः रूपांतरित कर दिया, उस परिप्रेक्ष्य को रूपांतरित कर दिया जो जगत् को देखने का, समझने का माध्यम था। वैज्ञानिक दृष्टि ने मनुष्य के पारमार्थिक–आध्यात्मिक पक्ष की उपेक्षा ही नहीं की, उसे पूर्णतया ख़ारिज ही कर दिया। इसे हम सम्पूर्ण 'संज्ञानात्मक विस्थापन' (कॉग्निटिव शिफ्ट) कह सकते हैं। यह एक नवीन सांस्कृतिक दृष्टि का आविर्भाव था। 17वीं शताब्दी से 20वीं शताब्दी के मध्य तक का कालखंड इसी सांस्कृतिक दृष्टि से परिभाषित कालखंड है।[5] इस दौरान योरोपियन सभ्यता टेक्नोलॉजिकल औद्योगिक सभ्यता में रूपांतरित होती चली गई।

सब मिलाकर वैज्ञानिक क्रान्ति का दुष्परिणाम यह हुआ कि प्रकृति एक ओर जड़ वस्तु के रूप में तो दूसरी ओर मनुष्य के उपभोग की वस्तु में रूपांतरित हो गयी। 'पृथ्वी मनुष्य के उपभोग के लिए है', यह धारणा 'बुक ऑफ जैनेसिस' (हीब्रू बाईबिल और ओल्ड टैस्टामैंट) में भी मिलती है। किन्तु इसके निर्बाध भोग की असीम लालसा के परितोष को आधुनिक टैकनॉलॉजी ने संभव कर दिया। 18वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति, जिसका सूत्रपात इंगलैंड में हुआ, वैज्ञानिक क्रान्ति का स्वाभाविक परिणाम है। जहाँ टैक्नोलॉजी एक ओर 'निर्जीव प्रकृति' के अनुसंधान में सहायक है तो वहीं दूसरी ओर इसने मनुष्य के हाथ में प्राकृतिक संसाधनों के दोहन की असीम क्षमता दे दी है।[6] यहाँ यह भी अवधेय है कि सभ्यतायें मनुष्य की स्वरूप विषयक अवधारणा पर आधारित होती हैं। आधुनिक सभ्यता के केंद्र में जो मनुष्य है वह भी आध्यात्मिकता से रहित मनो–दैहिक संरचना मात्र है और आधुनिक टैक्नोलॉजी पर आधारित सभ्यता उसके समस्त ऐहिक सुखों से परिपूर्ण 'स्वर्ग' की स्थापना का माध्यम।[7] यह कोई महज संयोग नहीं था कि इसी कालखंड में युरोप की विचार परम्परा में एक ओर मनुष्य और जगत् को ऐन्द्रिय–प्रत्यक्ष पर्यन्त मानने वाले प्रत्यक्षवादी–अनुभववादी दर्शनों, तो दूसरी और असीम, निर्बाध भौतिक समृद्धि के लक्ष्य को नैतिक–दार्शनिक आधार देने वाले उपयोगितावादी–सुखवादी दर्शनों का बोलबाला रहा। (इनके साथ–साथ मनुष्य को विषयोन्मुख अथवा विषयतंत्र बुद्धि से परिभाषित करने वाली अस्तित्त्ववादी, फिनॉमिनॉलॉजिकीय दर्शन धारायें भी थीं।)

यह सुविदित है कि आधुनिकता का प्रवेश इतिहास में एक विकासोन्मुख शक्ति के बोध के रूप में हुआ था, जिसमें मानवता को अज्ञान, अंधविश्वास और विवेकहीनता से मुक्त कराने का आश्वासन था। साथ ही इस विकास का लक्ष्य था असीम, निर्बाध भौतिक समृद्धि। आधुनिक योरोपीय समाजों का, फिर चाहे वे प्रजातांत्रिक–पूंजीवादी हों या साम्यवादी, लक्ष्य यही रहा है।

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या वो प्रत्याशायें, जिनके साथ आधुनिकता आई थी, पूरी हो पाईं? आधुनिकता के रिपोर्ट कार्ड पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो विश्वयुद्ध, नाजीवाद, फासीवाद, हिटलर द्वारा यहूदी–नरसंहार, वैश्विक मंदी, हिरोशिमा, कम्बोडिया, फारस की खाड़ी तदन्तर युगोस्लाविया

में नरसंहार, विश्वव्यापी आतंकवाद, अमीर और गरीब के बीच निरन्तर बढ़ता अंतर – विकास की अवधारणा अथवा भविष्य के प्रति आशावाद खोखला नजर आता है।[8]

सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री पिट्रिम सोरोकिन ने इसे 'ऐन्द्रिक संस्कृति' (सैन्सेट कल्चर) कहा है।[9] "ऐन्द्रिक संस्कृति का अर्थ है कि इन्द्रियों पर आश्रित ज्ञान को ही ज्ञान मानने वाली और इन्द्रियों से प्राप्त सुखों को एकमात्र सुख मानने वाली संस्कृति या मूल्य–व्यवस्था। आधुनिक विज्ञान और तकनीकी इस मूल्य–व्यवस्था की ही उपज या उसके अर्थ की सिद्धि के माध्यम हैं।"[10]

यही वह ऐन्द्रिकता से परिभाषित आधुनिक औद्योगिक सभ्यता है, जिसका प्रत्याख्यान और विकल्प गांधीजी ने अपने हिन्द स्वराज में प्रस्तुत किया था।

पश्चिम में औद्योगिक अर्थव्यवस्था के स्थान पर आधुनिक–पूर्व आर्थिक व्यवस्था की ओर लौटने को लेकर बहुत बहस चलती रही है, किन्तु यह किसी नतीजे पर पहुंची हो ऐसा दिखाई नहीं पड़ता। हमारी उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि दृष्टि–परिवर्तन के बिना यह संभव नहीं है।

गांधी, वर्तमान व्यवस्था या यों कहें वर्तमान सभ्यता के विकल्प के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं, इस पर विवाद है। किन्तु आज वैश्व मानवता जिस संकट का सामना कर रही है उससे उसका अस्तित्त्व ही खतरे में पड़ गया है। सन् 2019 में डेविड वालेस–वैल्स ने मानवता के समक्ष खड़े संकट पर टिप्पणी करते हुए लिखा है : औद्योगिक विश्व के आत्महत्या (kamikaze) के मिशन की कहानी बस एक सामान्य (मानव) जीवन–काल जितनी लम्बी कहानी है जिसके दौरान (70–80 वर्ष) विश्व अपेक्षाकृत सुरक्षित स्थिति से विनाश के कगार पर पहुँच गया है।[11] परिस्थिति ऐसी है कि किसी भी स्वस्थचित्त व्यक्ति के लिए इस बात से इनकार कर पाना मुश्किल होगा कि आज वर्तमान व्यवस्था के विकल्प की आवश्यकता है। तब प्रश्न होगा कि क्या यह विकल्प गांधी से मिल सकता है? अथवा क्या गांधी एक सही और संधारणीय साभ्यतिक विकल्प हो सकते हैं?

पिछले वर्ष, 2022 में डा. नंदकिशोर आचार्य द्वारा उनके भाषणों और लेखों का संग्रह ''गाँधी हैं विकल्प'' प्रकाशित हुआ था। यह पुस्तक

विचारोत्तेजक है। इसमें गांधीय साभ्यतिक–दृष्टि और तदाधारित सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि व्यवस्थाओं पर सम्यक विचार हुआ है। यह लेख मूलतः इसी पुस्तक में प्रतिपाद्य विचार का पुनर्विवेचन है।

लेखक ने पुस्तक के पहले निबन्ध 'गांधी : न्याय की आवाज़' में ही गांधीय विकल्प का प्रस्ताव कर दिया है। वे बात शुरू गांधी की प्रासंगिकता का प्रश्न उठाते हुए कहते हैं कि सामान्यतः गांधीजी के विचारों को अति आदर्शवादी और अव्यावहारिक, अनुपादेय, अप्रासंगिक कहकर अतीत की, इतिहास की चीज कहकर छोड़ दिया जाता है। फिर वे गांधी विचार की व्यावहारिकता के प्रश्न को आगे के लिये मुल्तवी करते हुए कहते हैं कि गांधीजी की व्यावहारिकता के प्रश्न के पहले 'हमें वर्तमान को समझना होगा।'

मनुष्य की साध क्या है?मनुष्य का संघर्ष या सभ्यता के विकास की प्रेरणा क्या है? नन्दकिशोर आचार्य इतिहास की प्रेरणा मनुष्य द्वारा 'न्याय की तलाश' को मानते हैं। फिर इस वे प्रश्न पर आते हैं कि क्या ऐसा इतिहास लिखा जाना संभव है जो मनुष्य की न्याय की तलाश का इतिहास हो? जिसका लक्ष्य एक न्ययायपूर्ण संसार की स्थापना हो? यहाँ यह उल्लेख कर देना उपयोगी होगा कि आचार्य जी यहाँ इस पूर्वमान्यता के साथ चल रहे हैं कि इतिहास का, मनुष्य की इतिहास यात्रा का कोई पूर्व–निर्धारित लक्ष्य है।

बहुत से इतिहास–दार्शनिकों व इतिहासकारों ने इतिहास को किसी लक्ष्य अथवा आदर्श के चरितार्थान की यात्रा के रूप में देखा है, व्याख्यायित किया है। जूडियो–क्रिस्चियन इतिहासकारों, हेगल और मार्क्स आदि ने मनुष्य की लक्ष्योन्मुख इतिहास–यात्रा की ही कथा कहते हैं। ऐसे सभी इतिहासकारों का विश्वास है कि अंततः एक 'सतयुगी' समाज की स्थापना होगी। अभी 1989 में फ्रांसिस फुकुयामा[12] ने तो आधुनिक पश्चिमी संवैधानिक लोकतांत्रिक समाज में ही इतिहास के लक्ष्य का चरितार्थन ही देख लिया।

इस तथ्य से शायद ही कोई इनकार करे कि मानव समाजों के आधार में औचित्य बोध अनुस्यूत रहता है। यह ऐसा औचित्य–बोध है, जो कमजोर को शक्तिशाली के समक्ष समता देता है। भारतीय परम्परा में इसे 'धर्म' कहा गया है। न्याय धर्माधारित होकर ही न्याय होता है। भारतीय

परम्परा में समाज की उत्पत्ति विषयक जो चर्चा आई है उसमें भी मत्स्य न्याय–बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है–की अराजकता के विरुद्ध धर्माधारित राजदंड को, न्याय को समाज का आधार माना गया है।[13] समाज का यह आधार कोई सिद्ध स्थिति नहीं अपितु साध्य है, आदर्श है, चरितार्थ्य है, प्रयत्नापेक्षी है। इस प्रकार, जिस आदर्श को लक्ष्य करके समाज की स्थापना होती है उसके चरितार्थन की ऐतिहासिक यात्रा को न्याय की खोज कहा जा सकता है। अवधेय है कि यहाँ न्याय का अर्थ न्याय–प्रणाली–दंड–पुरस्कार की व्यवस्था–मात्र नहीं है। यह औचित्य–बोध से अभिन्न है। गांधीजी औचित्य–बोध को, न्याय को, अहिंसा से अवियोज्य मानते थे। वे समस्त मानवीय व्यवहार, समस्त मानवीय संस्थाओं के उचितानुचित का निर्धारक अहिंसा को मानते थे। अहिंसा प्रत्येक कर्म के औचित्य की कसौटी है। इस प्रकार, उनके लिए धर्म, न्याय और अहिंसा समार्थक पद हैं। प्लेटो द्वारा न्याय के लिए प्रयुक्त 'डिकिओसीनि' शब्द के अर्थ में 'नैतिकता', 'कर्तव्यपरायणता' और 'न्यायपरायणता' सम्मिलित हैं। किसी भी कर्म के न्यायपूर्ण होने के लिए किसी औचित्य से प्रमाणित होना आवश्यक नहीं है। न्याय स्वयं ही औचित्य का एक आधारभूत मानदंड है। किसी भी व्यवस्था के एक उचित तथा युक्त व्यवस्था होने के लिए यह आवश्यक है कि वह न्यायपूर्ण हो। "इस प्रकार देखने पर न्याय नैतिक औचित्य का एक प्रमाणक सिद्धांत हो जाता है। प्लेटो ने भी इसे श्रेयस (summum bonum) का एक अंग कहा है।"[14] यह विचार आधुनिक पश्चिम के उस प्रचलित विचार के विपरीत है जो सभी नागरिकों को समानता देते हुए न्याय को दंड और पुरस्कार के युक्त वितरण की व्यवस्था मानता है।[15] इसके अन्तर्गत व्यक्तियों के अधिकार अनुलंघनीय हैं। भारतीय परम्परा में समाज–व्यवस्था को इसके सदस्यों की परस्परोपजीविता–परस्परोपकारकता के रूप में अवधारित किया गया है। यही नहीं, मनुष्य को समस्त चर–अचर प्रकृति के साथ सामरस्य में कल्पित किया गया है। इस प्रकार मनुष्य अपने समाज और वैश्विक–व्यवस्था में अन्य अवयवों के साथ समरसता में व्यवस्थित एक अवयव है। "इस दृष्टि के अनुसार इस सार्वभौम समरसता में योगदान न्याय कहा जायेगा।"[16] महात्मा गाँधी की 'दृष्टि' में यही भारतीय दृष्टि रची–बसी थी। वे भी मनुष्य व्यक्ति को समाज के साथ ही नहीं अपितु चर–अचर प्रकृति के साथ समरसता में देखते देखते थे। किन्तु वे न्याय और अहिंसा को

अवियोज्य मानते थे। इसीलिये उनकी प्रमुख प्रेरणादायी पुस्तक श्रीमद्भगवत् गीता की उन्होंने अपनी तरह से व्याख्या की। उन्होंने गीता को अहिंसा की आधारभूमि पर प्रतिष्ठित किया।

अहिंसा क्या है? यह हिंसा का विलोम अथवा विपरीतार्थक शब्द मात्र नहीं अपितु एक साध्य आदर्श है। मानव व्यक्ति का भी और मानव समाज का भी, विश्व का भी। "अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः। अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते।। (अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम तप है, और अहिंसा ही परम सत्य और जिससे धर्म की प्रवृत्ति आगे बढ़ती है।) महाभारत के इस श्लोक में अहिंसा परमादर्श के रूप में अभीहित हुआ है। गांधीजी के लिए भी अहिंसा परम धर्म ही था। अब, इसकी सिद्धि में, इसके चरितार्थान में बाधक हिंसा को कैसे परिभाषित करेंगे? हिंसा की परिभाषा क्या होगी? जोहन गाल्तुंग के अनुसार : "कोई भी चीज जो मनुष्य के आत्मविकास, आत्मसिद्धि को बाधित करती है और जो आवश्यक नहीं है, वह हिंसा है।"[17] यही अन्याय है। जो मनुष्य की आत्मसिद्धि में सहायक हो वह अहिंसा है। गांधीजी के लिए भी अहिंसा का यही अर्थ था। अहिंसा का सामान्यतः जो अर्थ लिया जाता है वह जीव मात्र के प्रति अक्रूरता है। कुछ आगे बढ़कर यही भाव चर–अचर प्रकृति के प्रति रखना भी अहिंसा है। गांधी यहीं नहीं रुकते। उनके अनुसार व्यक्ति, संस्था, समाज, राजनीति, अर्थव्यवस्था, धर्म (रिलिज्यन) आदि में जो असत् है, उसकी स्वरूप सिद्धि में जो बाधक है, उसके निवारण के लिए कर्म अहिंसा है। यही न्याय है।[18]

इसी प्रकार भौतिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक विकास में अवरोध – मनसा, वाचा, कर्मणा – हिंसा है। ध्यातव्य है कि बात केवल वैयक्तिक हिंसा की नहीं है, सामष्टिक हिंसा की भी है – सामष्टिक स्तर पर सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हिंसा की है जिन मूल्यों का अनुसरण समष्टियाँ (समाज, राष्ट्र, सभ्यताएं) कर रही हैं, उनके कारण संभावित हिंसा के प्रति सजगता की है। आधुनिक पश्चिमी सभ्यता, जो अब वैश्विक हो चुकी है, उसमें आर्थिक विकास को ही समस्त विकास का आधार मान लिया गया है। मान लिया गया है कि आर्थिक विकास के माध्यम से ही समस्त समस्याओं का हल संभव है। आर्थिक विकास के पैमाने पर ही राष्ट्रों को विकसित, विकासशील और पिछड़ा माना जाता है। विकास का अर्थ 'ओपन एंडेड ग्रोथ' है – उत्पादन में सतत, निर्बाध वृद्धि। इसके पीछे एक ऐसे

मनुष्य की कल्पना है जिसकी भौतिक आवश्यकताओं का कोई अंत नहीं। क्या प्रतिस्पर्धा से, कम्पीटीशन से ही ऐसा विकास संभव हो सकता है ? आर्थिक समृद्धि को ही न्यायपूर्ण समाज की स्थापना का माध्यम मान लिया गया है। अब प्रश्न यह है कि समाज इसके सदस्यों के बीच प्रतिस्पर्धा पर आधारित होना चाहिए अथवा उनके बीच सहयोग पर, सहकार पर? प्रतिस्पर्धा के समर्थक कहते हैं कि वे स्वस्थ प्रतिस्पर्धा के पक्षपाती हैं, वैमनस्य और संघर्ष पैदा करने वाली 'कट थ्रोट' प्रतिस्पर्धा के नहीं। किन्तु यह सामान्य अनुभव है कि प्रतिस्पर्धा बढ़कर परस्पर वैमनस्य और परिणामस्वरूप अंततः संघर्ष को जन्म देती ही है। वैमनस्य, संघर्ष और इस कारण प्रतिस्पर्धा नहीं सहयोग, सहकार समाज के पुष्ट आधार होते हैं। सामष्टिक स्तर पर विभिन्न राष्ट्रों के बीच प्राकृतिक संपदा और बाजारों को लेकर प्रतिस्पर्धा की विभीषिका सबके सामने है। राष्ट्रों के बीच सहकार के लिए स्थापित संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं भी शक्तिशाली राष्ट्रों के स्वार्थीपन का शिकार है।

यह कैसा समाज है? क्या यह न्यायपूर्ण व्यवस्था है? वैसे कहा तो यह जाता ही है कि इसमें न्याय का शासन है, लोक कल्याणकारी प्रजातंत्र है, व्यक्ति के हितों की रक्षा के लिए संविधान है। किन्तु क्या लोकतंत्र, जिसे बहुमत का शासन कहा जाता है, उसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता और समानता सुरक्षित है? हालांकि विभिन्न प्रकार की वैयक्तिक स्वतंत्रताओं की सुरक्षा की गारंटी संविधान देता है। इसके बावजूद भी समानता और स्वतंत्रता की गारंटी सुनिश्चित करने का वादा करने वाला, न्याय पर आधारित यह तंत्र अपने वादों के प्रति कितना सच्चा है हम जानते ही हैं। यदि समष्टियों के स्तर पर देखें तो पाते हैं कि युरोप के इन न्याय पर आधारित लोकतांत्रिक समाजों का एशिया और अफ्रीका और लातिनी अमरीका के देशों के प्रति कितना हिंसात्मक और अन्यायपूर्ण व्यवहार रहता आया है। आस्ट्रेलिया और उत्तरी अमेरिका की तो मूलनिवासियों की पूरी की पूरी आबादी ही मिटा दी गई। आज जैसी वैश्विक स्थिति है उसे किसी भी तरह से वांछनीय नहीं कहा जा सकता। यह एक ऐसा विश्व निर्मित हुआ है जो उन मूल्यों पर आधारित है जो योरोपीय सभ्यता की इतिहास यात्रा के क्रम में स्थापित हुए थे। इन्हीं मूल्यों पर आधारित युग के साथ वहाँ आधुनिक युग का सूत्रपात

हुआ। इस युग में विज्ञान और टैक्नोलॉजी के अभूतपूर्व मेल पर आधारित एक औद्योगिक सभ्यता का जन्म हुआ। किन्तु क्या भारत या चीन जैसे देशों अथवा कहें सभ्यताओं के लिए इसे अपनाना आवश्यक था?

पुनः सब मिलाकर वैज्ञानिक क्रान्ति का दुष्परिणाम यह हुआ कि प्रकृति एक ओर जड़ वस्तु के रूप में तो दूसरी ओर मनुष्य के उपभोग की वस्तु में रूपांतरित हो गयी। इसके निर्बाध भोग की असीम लालसा के परितोषण को आधुनिक टैकनॉलॉजी ने संभव कर दिया। जहाँ टैक्नोलॉजी एक ओर 'निर्जीव प्रकृति' के अनुसंधान में सहायक है तो वहीं दूसरी ओर इसने मनुष्य के हाथ में प्राकृतिक संसाधनों के दोहन की असीम क्षमता दे दी है। जिनका प्रयोग मनुष्य के ऐहिक सुखों से परिपूर्ण 'स्वर्ग' की स्थापना के लिए किया जा रहा है। यहाँ देखिये, प्रजातांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था, अर्थव्यवस्था और इन व्यवस्थाओं के भीतर पलने वाला सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन, ये सब जिन मूल्यों पर, जिस 'बिलीफ सिस्टम' पर आधारित हैं, क्या उससे मनुष्य के लिए समानता, स्वतंत्रता और न्याय सुलभ हो पाये? इस कारण स्पष्ट ही वर्तमान व्यवस्थाओं का धारक समाज हिंसात्मक समाज हैं। अधिनायकवादी समाजों की तो बात ही क्या? ऊपर हमने हिंसा के जिन रूपों का उल्लेख किया उन्हें जोहान गाल्टुंग हिंसा का अप्रत्यक्ष रूप, 'संरचनात्मक हिंसा' कहते हैं। हिंसा का यह प्रकार प्रत्यक्ष हिंसा से कहीं अधिक खतरनाक है। प्रत्यक्ष हिंसा का सबसे प्रचंड रूप हमें आतंकवाद में देखने को मिलता है। आतंकवाद के छोटे–बड़े रूप हमारे चारों ओर आये दिन दिखाई पड़ते हैं। अप्रत्यक्ष हिंसा के दो प्रकार हैं – स्ट्रक्चरल वॉयलेंस (संरचनात्मक हिंसा) और कल्चरल वॉयलेंस (सांस्कृतिक हिंसा)। संरचनात्मक हिंसा का अर्थ है सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्थाओं में अन्तर्निहित हिंसा।[19]

क्या समाज की ऐसी हिंसा–ग्रस्तता का निदान गांधीय अहिंसा के माध्यम से संभव है? आधुनिक अर्थव्यवस्था, जो औद्योगिक अर्थव्यवस्था है, की विशिष्टता इसका मशीनी होना है। ऐसी मशीनें जो समय के साथ कम से कमतर मानवाश्रित होती चली गई हैं। मशीनें, प्रौद्योगिकी के विकास के साथ–साथ मानवीय–परिचालन–मुक्त होती चली गई हैं। अब तो मशीन को चलाने के लिए भी मनुष्य के स्थान पर कम्प्यूटर आते जा रहे हैं। इनके माध्यम से ओपन–एंडेड, सतत असीमित आर्थिक विकास (ग्रोथ), जो

आधुनिक अर्थव्यवस्था का लक्ष्य है, संभव हुआ है। ये मशीनी उद्योग और उन्हें चलाने वाली व्यवस्था का रूप मुनाफा कमाने वाली स्वायत्त व्यवस्था ने ले लिया है। यह ऐसी व्यवस्था है जो राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए अंतर्राष्ट्रीय हो गई हैं, राष्ट्रीय नियंत्रण और सीमाओं से मुक्त। अब तो स्थिति यह है कि बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठान राष्ट्रीय सरकारों को भी नियंत्रित करते हैं, उनकी नीतियों को प्रभावित करते हैं। पूंजीवादी व्यवस्था वाले सभी देशों में कमोबेश यही स्थिति है। परिस्थिति तो यह है कि संचार–प्रौद्योगिकी के विकास के साथ–साथ उपभोक्ता–व्यवहार (कंज्यूमर बिहेवियर) पर भी आर्थिक नियंत्रण बढ़ता चला गया है। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की आधारभूत आवश्यकतायें सीमित होती हैं। किन्तु लालसा की कोई सीमा नहीं। प्रचार माध्यमों से मनुष्य की इसी लालसा को हवा देकर उसे उसकी लालसाओं का दास बना दिया गया है। अब वह मात्र कंज्यूमर नहीं अपितु कंज्यूमेरिज्म का शिकार बनकर रह गया है।

यहाँ हम एक प्रश्न उठाकर आगे बढ़ना चाहेंगे। समाज व्यवस्था, अर्थ व्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था किसके लिए? क्या ये व्यवस्थायें स्व–उद्देशीय होती हैं अथवा ये किन्हीं उच्चतर अथवा इतर लक्ष्यों की सिद्धि हेतु निर्मित होती हैं। सामान्यतः संस्कृतियाँ उस मूल्य से परिभाषित होती हैं जिसे वे परम–अर्थ (सर्वोच्च मूल्य) मानती हैं। और इस मूल्य की सिद्धि को सुगम बनाने के उद्देश्य से सभी व्यवस्थायें निर्मित होती हैं। ये व्यवस्थाएं सामूहिक रूप से सभ्यता कहलाती हैं। समाज में सांस्कृतिक मूल्यों का एक सोपान बनता है – जिसमें जैविक (आत्म–रक्षा) मूल्यों से लेकर आध्यात्मिक मूल्य अवस्थित होते हैं। उक्त व्यवस्थायें इन्हीं मूल्यों के संरक्षण हेतु निर्मित होती हैं। अब आज की परिस्थिति को देखें। पहले अर्थव्यवस्था को लें। इस व्यवस्था का लक्ष्य मनुष्य का समुचित भरण–पोषण कहा जा सकता है। किन्तु क्या आधुनिक अर्थव्यवस्था का उद्देश्य मात्र इतना ही है? आज की अर्थव्यवस्था ने एक ऐसी स्वायत्त व्यवस्था का रूप ले लिया है जो किन्हीं अर्थेतर मूल्यों के चरितार्थन के लिए साधनभूत नहीं अपितु स्वयं के लिए ही है। मनुष्य इसका शिकार और परिणामस्वरूप इसके विकास का माध्यम है। इस व्यवस्था का शिकार, जिसे उपभोक्ता कहा जाता है, एक ऐसा मनुष्य है जो आध्यात्मिक तत्त्व से रहित मनोदैहिक प्राणी है। अर्थव्यवस्था इसी के मनोदैहिक परितोष को लक्षित करती है। आर्थिक विकास के मानदण्ड

वाहनों की व अन्य उपभोक्ता वस्तुओं की बिक्री की दर ंऔर प्रति व्यक्ति ऊर्जा के उपभोग में वृद्धि की दर आदि हैं। जब बात असीमित भौतिक विकास की हो तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मनुष्य की आवश्यकतायें सीमित हैं या असीमित? किन्तु यदि आवश्यकतायें सीमित हों तो असीमित भौतिक विकास का कोई अर्थ नहीं रहता। और यदि लक्ष्य असीमित विकास का ही है तो यह तभी संभव है यदि आवश्यकताओं का स्थान लालसा ले ले। वही हुआ है। आर्थिक विकास के विद्रूप और विडम्बनायें तथा उससे उत्पन्न खतरों के दुष्परिणाम हमारे सामने हैं। आज आर्थिक विकास से ही देश परिभाषित किये जाते हैं – पिछड़े, विकासशील, विकसित आदि। इससे स्पष्ट है कि आर्थिक जीवन और मूल्य मनुष्य और समाज के विकास के मानदण्ड हो गए हैं। अब इस विश्वव्यापी हो चुकी पूंजीवादी औद्योगिक व्यवस्था ने मनुष्य को विनाश के कगार पर ला खड़ा किया है।

इसी पूँजीवाद के विकल्प के रूप में युरोप में साम्यवाद का उदय हुआ था। कहा जा सकता है कि साम्यवाद का उदय तब हुआ जब आधुनिक प्रोद्योगिकी पर आधारित पूंजीवाद अभी अपनी तरुणाई में था। हालाँकि कार्ल मार्क्स ने 19वीं सदी के मध्य में ही पूंजीवादी व्यवस्था के अमानवीय स्वरूप को उजागर करते हुए इसके भीतर शोषण के शिकार 'सर्वहारा वर्ग' को उठने को प्रेरित करने का प्रयास किया था। किन्तु मार्क्सवादी विचारों का क्रियान्वयन 20वीं शताब्दी के दूसरे दशक के अंतिम वर्षों में पहली बार रूस में आरम्भ हुआ। किन्तु गांधीजी पूंजीवादी व्यवस्था के मनुष्य और प्रकृति के प्रति हिंसक स्वरूप को इससे बहुत पहले ही भलीभाँति पहचान चुके थे। इसके हिंसक स्वरूप से उनका सामना 1893 में दक्षिण अफ्रीका में मेरिट्सबर्ग के रेलवे स्टेशन पर हो चुका था। जिसके विरुद्ध उन्होंने आन्दोलन खड़ा किया और उस दौरान वे इसके विरोध तक सीमित नही रहे, अपितु उन्होंने हिन्द स्वराज में इसका विकल्प भी प्रस्तुत किया। हिन्द स्वराज, जैसा कि नाम से ध्वनित होता है, यह विकल्प भारत के लिए ही नहीं था। यह समस्त विश्व को आधुनिक हिंसक सभ्यता से बचाने का विकल्प था। दूसरी ओर, पूँजीवाद के विकल्प के रूप में विश्व पटल पर दो व्यवस्थाएं, साम्यवाद और लोकतांत्रिक समाजवाद, प्रस्तुत हुईं। ये ऐसी प्रतिस्पर्धी व्यवस्थायें हैं जो सामाजिक न्याय के आदर्श के चरितार्थन का

दावा करती हैं। किन्तु अपने प्रौद्योगिकीय (टैक्नोलॉजीकल) स्वरूप में ये मूलतः पूँजीवाद से अपने आधारों में समान होने के कारण अपने उद्देश्य में ये भी असफल होने के लिए अभिशप्त हैं। साम्यवादी और समाजवादी व्यवस्थाओं के पराभव को तो हम देख ही चुके हैं और पूंजीवाद की विभीषिका हमारे सामने है।

यह धारणा सर्वमान्य है कि उत्पादन के साधन उत्पादन–संबंधों में परिवर्तन के कारक होते हैं। उत्पादन–संबंधों में परिवर्तन के परिणामस्वरूप सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्था बदलती है। किन्तु मार्क्सवाद की विडम्बना यह है कि मार्क्सवादी विचारकों ने साम्यवादी समाजों के लिए वैकल्पिक उत्पादन के साधनों में परिवर्तन की आवश्यकता ही नहीं समझी। रूस में उसी प्रौद्योगिकी पर आधारित अर्थव्यवस्था को अपनाया गया जो प्रजातांत्रिक पूंजीवाद का आधार थी।[20] इसका परिणाम सामने है। साम्यवादी व्यवस्था के पतन के बाद वहाँ पूंजीवाद अपनी तमाम विकृतियों के साथ लौट आया है। जिस पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्विरोधों के कारण सर्वहारा– क्रान्ति के माध्यम से साम्यवादी समाज की स्थापना को मार्क्स ने विकास के अवश्यंभावी अगले चरण के रूप में देखा था उसके लिए उन्होंने किसी वैकल्पिक समतामूलक प्रौद्योगिकी की आवश्यकता के विषय में विचार ही नहीं किया। वे तो बस उसी प्रौद्योगिकी के व्यक्तिगत स्वामित्त्व से सार्वजनिक स्वामित्त्व में परिवर्तन में ही मानवता का उद्धार देख रहे थे। जो प्रौद्योगिकी पूंजीवादी व्यवस्था का आधार है वह कैसे किसी वैकल्पिक व्यवस्था का आधार हो सकती है? यह मार्क्स ने नहीं देखा। शायद यह देख पाना उनके लिए संभव नहीं था। मनुष्य और समाज विषयक मार्क्स की कल्पना वही थी जो एडम स्मिथ आदि पूंजीवादी विचारकों की थी। दूसरे शब्दों में, मार्क्स और उनके अनुयायी और पूंजीवादियों की विकास की अवधारणा एक ही है। दोनों के लिए विकास का अर्थ प्रोद्योगिक एवं आर्थिक विकास ही है। यह स्पष्ट ही है कि वैकल्पिक प्रौद्योगिकी पर आधारित हुए बिना उत्पीडन रहित न्यायपूर्ण समाज की स्थापना असंभव है। किन्तु पूंजीवाद का विकल्प देने वाले यह नहीं देख पाए। शायद भारतीय होने के कारण गांधीजी को यह दृष्टि सुलभ थी। यही कारण रहा कि उन्होंने आधुनिक प्रौद्योगिकी पर आधारित योरोपीय सभ्यता को आसुरी कहा और इसे चलाने लिए विकसित संसदीय प्रजातंत्र को बाँझ और वेश्या।

गांधीजी उस वैकल्पिक प्रौद्योगिकी का प्रस्ताव कर रहे थे जो स्वभावतः ही आधुनिक प्रौद्योगिकी के विपरीत स्थानीय और विकेंद्रीकृत है। ऐसी प्रौद्योगिकी पर आधारित उत्पादन के साधनों पर पूंजीवादी व्यक्तिगत अथवा समाजवादी सार्वजनिक अधिकार के स्थान पर गांधीजी ने इन साधनों के संचालकों को मालिक के स्थान पर ट्रस्टी होने का प्रस्ताव किया। साम्यवाद उत्पादन के साधनों का स्वामित्व राज्य को देता है। गांधीजी द्वारा यह एक ऐसी व्यवस्था का प्रस्ताव था जिसमें ना कोई मालिक है और ना कोई नौकर। सभी विभिन्न भूमिकाओं में समाज के प्रति उत्तरदायी और विकास में सहयोगी हैं। न्यासिता (ट्रस्टीशिप) आर्थिक चिंतन के क्षेत्र में गांधीजी का सर्वाधिक क्रांतिकारी विचार है।[21] इस सिद्धांत को आमतौर पर पूर्णतः अव्यावहारिक मानकर सीधे ही अस्वीकार कर दिया जाता है। न्यासिता का आधार यह धारणा है कि सार्वजनिक संसाधनों पर निजी स्वामित्व अनैतिक है। किसी भी प्रकार के उत्पादन में लगने वाली पूंजी, श्रम और प्रोद्योगिकी, ये सभी सार्वजनिक होते हैं। उत्पादन में लगने वाली पूंजी स्पष्ट ही सार्वजनिक होती है जिसे शेयरों और बैंक–ऋण आदि के रूप में प्राप्त किया जाता है। श्रम की सामूहिकता वैसे ही ज़ाहिर है। इसी प्रकार प्रोद्योगिकी किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह का आविष्कार होकर भी समाज में सुदीर्घ ज्ञान और तकनीकी विकास की प्रक्रिया का परिणाम होती है। इसे किसी व्यक्ति विशेष की संपत्ति नहीं कहा जा सकता। "जिस प्रकार समाज के सभी सदस्यों की संचित संपत्ति उत्पादन में लगकर पूँजी का रूप ग्रहण करती है, उसी तरह संचित ज्ञान भी।"[22] अब यदि न्यासिता अव्यावहारिक है तो लोकतंत्र भी एक प्रकार की राजनीतिक न्यासिता ही तो है। इसे हमने अपनाया है, इसके बावजूद भी कि यह व्यवस्था अपने आदर्शों से बहुत दूर है। फिर भी हम इसे राजतन्त्र या साम्यवाद अथवा विदेशी शासन से बेहतर मानते हैं और समय–समय पर इसके भीतर उत्पन्न होने वाली समस्याओं के हल के लिए सुधार करने का प्रयास करते ही रहते हैं। क्या यही नजरिया हम आर्थिक न्यासिता के प्रति नहीं रख सकते? "न्यासिता निजी स्वामित्त्व वाली व्यवस्था से अधिक न्यायोचित, तर्कसम्मत, मानवीय और अहिंसक होगी, जैसे एक कमजोर लोकतंत्र भी एक सक्षम निरंकुश तंत्र से बेहतर होता है। न्याय अव्यावहारिक नहीं होता।"[23]

पूंजीवादी व्यवस्था में विकास के परिणामस्वरूप उभरी समस्याओं – आर्थिक–असमानता में वृद्धि और पर्यावरणीय–पारिस्थितिकीय असंतुलन – का निदान भी स्थानीय अथवा देसी प्रौद्योगिकी को अपनाकर ही संभव हो सकता है। किन्तु इसके लिए यह आवश्यक शर्त है कि न केवल आर्थिक विकास अपितु विकास की आधुनिक अवधारणा को ही त्यागना होगा उसके बिना देसी प्रोद्योगिकी को अपनाना संभव नहीं होगा। आधुनिक 'चरखा' देसी प्रौद्योगिकी का प्रतीक है। "गांधीजी जब चरखे कि बात करते हैं तो वह वस्तुतः देसी प्रौद्योगिकी का ही आग्रह है – केवल किसी भारतीय प्रौद्योगिकी की नहीं, बल्कि अलग–अलग प्रदेशों के लिए उनके अपने स्वभाव से उपजी प्रौद्योगिकी का आग्रह है।" जो विभिन्न देशों–प्रदेशों में स्थानीय आवश्यकताओं कि पूर्ती हेतु उपजती है, आविष्कृत होती है। "लेकिन उसके पीछे काम कर रही मनोवृत्ति, प्रकृति का शोषण करने की नहीं, बल्कि उसे अपना ही एक रूप मानकर व्यवहार करने की होगी। इस आधार पर विकसित प्रौद्योगिकी ही एक ऐसी मानवपरक अर्थव्यवस्था का आधार हो सकती है, जिसमें उत्पादन का प्रयोजन मुनाफाखोरी नहीं, बल्कि ऐसे तरीकों से मानवीय आवश्यकता की पूर्ती है जो मनुष्य की न्यायबुद्धि के विकास की अविरोधी ही नहीं, बल्कि प्रेरक सिद्ध हो।"[24]

ऐसी प्रौद्योगिकी उस मानव के लिए प्रासंगिक है जिसकी भौतिक आवश्यकताएं सीमित हों, उसके लिए नहीं जो लालसाओं के अधीन हो। इसके विपरीत कीन्ज ने 1928 में आये आर्थिक संकट से उबरने का रास्ता 1930 में मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों ('एनिमल इंस्टिक्ट्स') को उकसाकर अधिक से अधिक उपभोग की और ले जाने में खोजा था। उन्होंने उपभोग के माध्यम से आर्थिक संकट से उबरने का जो रास्ता दिखाया वही आधुनिक अर्थव्यवस्था में 'ग्रोथ' का मूल मन्त्र है। यही आधुनिक औद्योगिक सभ्यता की सफलता का आधार और यही उसका 'ट्रेजिक फ्ला' (त्रासद दोष) है। "विकास के प्रचलित रस्ते पर चलते हुए... दो समस्याएं – आर्थिक असमानताओं में वृद्धि और पर्यावरणीय–पारिस्थितिकीय असंतुलन" दुनियाभर के विचारकों, अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों, वैज्ञानिकों, राजनेताओं कि चिंता का प्रमुख कारण हैं। सुप्रसिद्ध जीवविज्ञानी एवं पर्यवावरणविद् बेरी कॉमनर ने इस विडम्बना को रेखांकित किया है कि ये समस्याएं आर्थिक वृद्धि की सफलता की परिणाम हैं न कि असफलता की।

इन समस्याओं का कारण आधुनिक प्रौद्योगिकी है। "क्योंकि, अंततः प्रौद्योगिकी ही प्रकृति और पारिस्थितिकी से हमारे संबंधों को तय करती है और स्वामित्व व लाभ के वितरण की प्रक्रिया भी। जिस बड़े पैमाने पर प्रौद्योगिकी को हमने अपनाया, उसी का परिणाम है प्रबंधन का केन्द्रीकरण... रोजगार के अवसरों की कमी तथा पर्यावरण–प्रदूषण और प्राकृतिक संसाधनों के तेजी से दोहन के फलस्वरूप उनके भण्डार की समाप्ति का आसन्न खतरा मात्र प्राकृतिक तेल या कोयले के समाप्त हो जाने का नहीं है। तेजी से बढ़ते हुए पर्यावरणीय असंतुलन का भी है, जिससे मानवता के समक्ष आस्तित्त्विक संकट उत्पन्न हो गया है। गांधीजी का देसी प्रोद्योगिकी को अपनाने का प्रस्ताव ही मानवता के सामने मुँहबाय खड़ी समस्याओं से पार पाने का रास्ता है। किन्तु इसे अपनाने के लिए आवश्यक है– आधुनिकता की आधार समूची मूल्य–व्यवस्था का परित्याग। कहना ना होगा कि गांधी विकल्प केवल भारत के लिए नहीं अपितु समस्त मानवता के लिए है। क्योंकि यह संकट भी वैश्विक संकट है। आधुनिक औद्योगिक सभ्यता, जो 20वीं शताब्दी के दौरान वैश्विक हो चुकी है और समूची मानवता इससे ग्रस्त है, गांधी ने उसका एक वैश्विक विकल्प दुनिया के सामने रखा है।

उनका हिन्द स्वराज पाश्चात्य सभ्यता का केवल आलोचना–ग्रन्थ ही नहीं है। यह उसका एक मानवीय विकल्प भी प्रस्तुत करता है। गांधीजी ने आधुनिकता के इन्द्रिय–प्रत्यक्ष पर आधारित निरपेक्ष ज्ञान व उसके सार्वभौमता और निरपेक्ष सत्य के दावे और उसके भौतिक सुखवाद, उद्योगवाद, बाजारवाद आदि सबकुछ को आत्यांतिक रूप से खारिज किया है। उन्होंने आधुनिकतावाद के सत्तामीमांसीय (ऑँटोलॉजिकल), ज्ञानमीमांसीय (एपिस्टेमोलॉजिकल) और नीतिपरक् (एथिकल) सभी आधारों एवं उपागमों को खारिज करते हुए इसे मानवता की मुक्ति के माध्यम के रूप में अस्वीकार कर दिया और इसे मानवता के उत्पीडन, दमन और पराधीन बना देने वाले उपकरण के रूप में देखा।

गांधीजी की दृष्टि धार्मिक–आध्यात्मिक थी और जीवन का कोई पक्ष इससे अछूता नहीं था। वे मनुष्य का उद्धार, उसकी स्वतंत्रता, सांस्कृतिक 'स्वराज' में प्रतिष्ठा के माध्यम से देखते थे। अपने सांस्कृतिक–स्व में प्रतिष्ठित भारत के लिए उन्होंने ग्राम–स्वराज पर आधारित

विकेंद्रीकृत राजनीतिक–आर्थिक व्यवस्था के विकल्प की प्रस्तावना की थी। गांधीजी का मनुष्य परमार्थ से परिभाषित सत्त्व है। विभिन्न समस्याएं जिनसे भारत ग्रस्त था – जातिगत उंच–नीच का भाव, स्त्री–पुरुष असमानता, अशिक्षा और अंग्रेजी शिक्षा, शिक्षा की भाषा, भाषाई और क्षेत्रीय विभाजन आदि – उन सभी का निदान स्वराज की स्थापना का लक्ष्य था।

गांधीजी ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे जो अपने स्वराज में प्रतिष्ठित हो। यह ऐसे सम्प्रभु न्यायपूर्ण समाज की कल्पना है जिसके भीतर किसी भी व्यक्ति की संप्रभुता की अक्षुण्णता सुरक्षित हो। 'प्रत्येक व्यक्ति का अपने स्वराज में रह सकना ही समाज की अपने स्वराज' में प्रतिष्ठा का प्रमाण है। स्वराज से गांधीजी का मंतव्य मात्र विदेशी शासन से मुक्ति नहीं था और न ही संसदीय लोकतंत्र की स्थापना थी। गांधीजी के लिए स्वराज का अर्थ है सभी प्रकार के नियंत्रणों से मुक्त होना – विदेशी, देशी, सरकारी सभी से। उनके लिए ऐसा समाज ही सच्चे अर्थों में लोकतांत्रिक समाज हो सकता था जो बिना सरकारी नियंत्रण के शांतिपूर्ण और सुचारु रूप से स्वयं को चला सकने में सक्षम हो। यह ऐसे आत्म–चेतन व्यक्तियों के समाज की कल्पना थी जो सत्ता का दुरुपयोग होने पर उसके प्रतिकार में खड़े हो सकने में सक्षम हों और सत्याग्रह के माध्यम से उसकी रक्षा कर सकें। शिक्षा की सार्थकता इसी में है कि वह व्यक्ति और समाज, दोनों को उसके स्वराज में प्रतिष्ठित हो सकने के योग्य बनाए। सत्याग्रह का अर्थ है अन्याय के प्रति अहिंसक प्रतिरोध। गांधीजी के लिए स्वदेशी और सत्याग्रह शिक्षा के लक्ष्य हैं, जो स्वराज की सिद्धि के, उसे हासिल करने के प्रमुख माध्यम हैं। शिक्षा का माध्यम क्या हो इस विषय में गांधीजी का आग्रह 'स्वभाषा' पर था। स्वभाषा के बिना 'स्वराज' सिद्धि संभव नहीं है। प्रत्येक भाषा सांस्कृतिक मूल्यों की संवाहक या यूं कहें, समस्त सांस्कृतिक संभार की वाहक होती है। इसका त्याग 'स्वत्व' को खोना है। इसलिए शिक्षा अपनी भाषा के बिना 'आत्म–विस्मृति', ही लाती है।

यहाँ यह पुनः रेखांकित कर देना आवश्यक है कि गांधीजी के साभ्यतिक विकल्प की प्रासंगिकता को उनके जीवनकाल में ही, अन्यों की तो क्या कहें, उनके अपने अनुयायियों ने ही अस्वीकार कर दिया था। हम देखते ही है कि भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद उसके पुनर्निर्माण में राजकीय सत्ता ने गांधी को अप्रासंगिक ही माना है। आज़ाद भारत की नेहरू

जी की कल्पना गांधीजी की कल्पना से भिन्न थी। इसकी बानगी इस विषय पर दोनों के बीच पत्र–व्यवहार से भी मिल जाती है।[25] आजादी के बाद भारत के पुनर्निर्माण का जो रास्ता लिया गया वह गांधीजी के द्वारा प्रस्तावित रास्ता नहीं था। विडम्बना देखिये, यह रास्ता उनके अनुयायियों के नेतृत्त्व में ही लिया गया था।

गांधी हैं विकल्प के अन्य लेखों – 'लोकतंत्र का अर्थ है भयमुक्ति', 'हिन्द स्वराज : एतिहासिक अनिवार्यता', 'सत्याग्रही न्याय–शास्त्र का आग्रह', 'आध्यात्मिक नारीवाद की प्रस्तावना' – में विभिन्न पक्षों से सम्प्रति पहले की अपेक्षा अधिक विस्तारित हो रही आधुनिक सभ्यता और तज्जन्य समस्याओं के गांधीय विकल्प का ही विवेचन है।

'गांधी, नेहरू और अम्बेडकर', 'गांधीजी का उत्तराधिकार', 'गांधी–सुभाष के मतभेदों का सच', 'गांधी और राय के संवाद की ज़रूरत', इन लेखों में आचार्य जी ने गांधीजी और अहिंसक, सर्वसमावेशी, समता और सर्वोदय के आदर्श को लेकर चलने वाले नेहरू और अम्बेडकर के बीच विवाद को अ–महत्त्वपूर्ण बताते हुए उनके बीच सहमतियों को रेखांकित किया है। किन्तु इन आदर्शों की सिद्धि के लिए, पूंजीवाद विरोधी होते हुए भी, मार्ग उन्होंने समाजवादियों की तरह ही आधुनिक प्रौद्योगिकी पर आधारित औद्योगिकीकरण का ही चुना। यह विवाद का विषय है कि क्या आधुनिक प्रौद्योगिकी पर आधारित विकास का रास्ता उक्त आदर्शों की सिद्धि का माध्यम हो सकता है? आचार्य जी इस रास्ते को रिजेक्ट करते हैं। उनके अनुसार रास्ता तो स्थानीय, स्वदेशी प्रोद्योगिकी पर आधारित विकेंद्रीकृत राजनीतिक–सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था का ही है। इस प्रसंग में अपने अंतिम दिनों, 1963 में, लोकसभा में दिए गए वक्तव्य में नेहरू जी द्वारा अपनी भूल की स्वीकारोक्ति को आचार्य जी उद्धृत करते हैं, जब नेहरू ने कहा था कि गांधीजी का रास्ता छोड़ना एक भूल थी।

'गांधीजी का उत्तराधिकार' लेख में आचार्य जी ने गांधीजी द्वारा जवाहरलाल नेहरू को अपना उत्तराधिकारी घोषित किये जाने से जुड़ी भ्रान्ति को, कि उन्होंने नेहरू को प्रधानमन्त्री के रूप में अपना उत्तराधिकारी चुना, आधारहीन सिद्ध करने का प्रयास किया है। लेखक का तर्क है कि गांधीजी स्वयं प्रधानमन्त्री अथवा किसी भी पद पर नहीं थे और न ही वे

आजादी के बाद प्रधानमन्त्री बनने वाले थे, जिसके लिए नेहरू को अपना उत्तराधिकारी चुनते। आजादी की लड़ाई में गांधीजी की जो नैतिक सत्ता थी उन्होंने नेहरू को उसका उत्तराधिकारी बनाया था। दूसरी बात यह कि अंतरिम सरकार बनाए जाने के लिए नेहरू जी को निमंत्रण इसलिये मिला क्योंकि वो उस समय कांग्रेस के अध्यक्ष थे। किन्तु बात इतनी सीधी नहीं है। भारत के उस भविष्य–निर्धारक वर्ष में नेहरू जी के कांग्रेस का अध्यक्ष चुने जाने के पीछे गांधीजी थे। पटेल उस समय कांग्रेस पार्लियामेंटेरी बोर्ड के अध्यक्ष थे और प्रांतीय कांग्रेस समितियों ने पटेल को ही मौलाना अबुल कलाम का उत्तराधिकारी चुनना चाहती थीं। किन्तु गांधी नेहरू को चाहते थे और वही हुआ भी।[26]

डा. अम्बेडकर और महात्मा गाँधी के बीच दलित समुदाय के अन्य समुदायों के साथ समानता के अधिकार को लेकर 'कल्पित' मतभेदों को कतिपय विद्वानों के बीच विवाद रहता रहा है। आचार्य जी इस विवाद को आधारहीन मानते हैं। 'गांधी, अम्बेडकर और दलित' लेख में इन विभूतियों के बीच मतभेदों की आधारहीनता पर सार्थक विवेचना की है। उनका कहना है कि गांधीजी और बाबा साहब अम्बेडकर के बीच मतभेद का आधार गांधी द्वारा वर्णव्यवस्था का 'समर्थन' है, जबकि अम्बेडकर वर्णव्यवस्था के विरोधी थे। अम्बेडकर समर्थक गांधी–विरोधियों की यह मान्यता गांधी के वर्णव्यवस्था संबंधी दृष्टि की नासमझी का परिणाम है। गांधी हमेशा प्रचलित वर्णव्यवस्था के विरोधी रहे। वे किसी भी ऐसी व्यवस्था के खिलाफ थे जो ऊँच–नींच के भेदभाव से ग्रस्त हो। दोनों के बीच मतान्तर दलितोद्धार के मार्ग को लेकर था। गांधीजी सवर्णों में नैतिक बोध को जगाकर दलितों के प्रति सदियों से किये जा रहे अन्याय के प्रायश्चित के माध्यम से दलितोद्धार चाहते थे और अम्बेडकर कानून के माध्यम से। शायद अम्बेडकर को सवर्ण समुदायों से यह अपेक्षा नहीं थी। इसलिए वे पारम्परिक रूप से स्मार्त–धर्म पर आधारित भारतीय समाज में सामाजिक न्याय को सुनिश्चित करने का रास्ता कानून के माध्यम से संभव मानते थे। भारतीय संविधान जाति और धर्म से परे सभी को समानता की गारंटी देता है। किन्तु प्रश्न रह जाता है कि क्या संविधान के माध्यम से सुनिश्चित की गई कानूनी गारंटियां वांछित मानसिक परिवर्तन ला सकी हैं?

'गांधी–सुभाष के मतभेदों का सच' लेख में आचार्यजी ने सुभाषचंद्र बोस के प्रति गांधीजी के नकारात्मक रुख की आधारहीनता को उजागर करने का सफल प्रयास किया है। किन्तु यह पूर्णतः स्पष्ट है कि अपने आदर्शों में सामान होते हुए भी उनके चरितार्थन के साधनों के लेकर गांधीजी और सुभाष बाबू परस्पर विरोधी सिरों पर खड़े थे। भारत की आजादी की लड़ाई में सहायता के लिए हिटलर से और सैन्यवादी जापानी प्रधानमन्त्री तोजो हदैकी से सुभाष बाबू का मिलना उनकी साधन की शुद्धता के प्रति उदासीनता भी इसका अनेक में से एक प्रमाण है। वे आजादी के लिए हिंसा प्रयोग अनुचित नहीं मानते थे।

'गांधीवाद : गांधी के बाद' लेख में विनोबा भावे और कुछ सीमा तक जयप्रकाश नारायण के जीवन और कर्तृत्व में गांधीय आदर्शों को जीवित देखा गया है। जबकि भारत की सत्तासीन कांग्रेस पार्टी उन्हें त्याग चुकी थी। हालांकि विनोबाजी के गांधीजी के आदशों पर चलने और सर्वोदय और भूदान–आन्दोलनों के माध्यम से उन्हें आगे बढाने में योगदान को लेकर शायद ही कोई विवाद करे, किन्तु जयप्रकाश नारायण, खासतौर पर उनके जीवन के परवर्ती काल में उनके द्वारा सम्पूर्ण क्रान्ति के लिए चलाये गए आन्दोलन में साधन की पवित्रता पर आग्रह उनसे छूट गया था। सन् 1974 से उनके द्वारा चलाये गए आन्दोलन का फ्रेमवर्क और आग्रह अहिंसक होते हुए भी उनके इस यज्ञ में साथ आये विद्यार्थियों और राजनीतिक पार्टियों की आस्था गांधीय मूल्यों में थी ही नहीं। वे तो मिलकर किसी भी तरह तत्कालीन सरकार को अपदस्थ कर सत्ता पाना चाहते थे। इसमें वे सफल रहे। बाद में क्या हुआ उसके विस्तार में जाना यहाँ अभीष्ट नहीं है।

'गांधी और रॉय के संवाद की जरूरत' लेख में आचार्य जी गांधीजी के बरक्स एम. एन. रॉय के दृष्टि और विचार को सामने रखते हुए उनके महत्त्व को रेखांकित करते हैं। यह आश्चर्य का विषय है कि रॉय को आधुनिक विचारकों में यथोचित स्थान नहीं मिला। एक सुप्रथित मार्क्सवादी रॉय ने द्वंदात्मक भौतिकवाद पर आधारित वर्ग–संघर्ष के सिद्धांत को त्याग कर भौतिकवादी विचार के भीतर से ही भिन्न दिशा लेते हुए वर्ग–संघर्ष के स्थान पर सहकार, सहयोग को सामाजिक विकास के कारक के रूप में स्वीकार करते हुए एकात्मक–भौतिकवाद के सिद्धांत की स्थापना की। यद्यपि उनका यह सिद्धांत मूलतः भौतिकवादी सिद्धांत ही था। किन्तु उन्होंने

मार्क्सवाद के वर्ग–संघर्ष के सिद्धांत को रिजेक्ट करके पूंजीवाद की ओर न जाकर पूँजीवाद के विकल्प के रूप में उन्होंने 'नव–मानववाद' की स्थापना की। व्यक्ति की स्वतंत्रता को लोकतंत्र की प्रामाणिकता का पैमाना मानना और सत्ता का विकेंद्रीकरण, पार्टी–विहीन प्रजातंत्र, सत्य की साधना और स्वतंत्रता की साधना मूलतः एक ही हैं और आर्थिक–विकेंद्रीकरण जैसी अवधारणाओं तथा भौतिकवाद के विपरीत उनके भौतिकवाद में नैतिकता का केन्द्रीय स्थान आदि उन्हें भौतिकवाद के एक उदात्ततर विचारक के रूप में स्थापित करता है और गांधी–दर्शन के नजदीक ले आता है। इसके बावजूद अकादमिक और राजनीतिक जगत में इन समकालीन विचारधाराओं के बीच संवाद की आवश्यकता क्यों महसूस नहीं की गई, यह विचारणीय प्रश्न है। इसका एक कारण यह भी रहा होगा कि अकादमिक जगत में वामपंथी और दक्षिणपंथी दोनों ही अपने अपने कारणों से उदासीन रहे।

पुस्तक के परिशिष्ट 'बापू (एकपात्रीय नाटक)' के माध्यम से लेखक ने गांधी के जीवन के अंतिम वर्षों, खासकर 1942 से क्रमशः अप्रासंगिक होते चले जा रहे गांधीजी के उनके अपनों के बीच गहराते जा रहे परायेपन के अहसास को मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। ज्यों ज्यों स्वतंत्रता नजदीक आती जा रही थी त्यों त्यों उनके अनुयायी उनसे दूर होते चले गए। यहाँ तक कि भारत विभाजन जैसे अहम मुद्दे पर कांग्रेस द्वारा महात्मा गांधी से मशविरा तक न किया जाना कांग्रेस की निगाह में गांधीजी की महत्त्वहीनता का, उनकी अप्रासंगिकता का ही परिचायक है। किन्तु गांधीजी की प्रासंगिकता का निर्धारण इस आधार पर नहीं किया जा सकता कि भारतीयों ने ही आजादी के बाद उनके विकल्प को पूरी तरह से त्याग दिया। नंदकिशोर आचार्य की पुस्तक ''गांधी हैं विकल्प'' आधुनिक पूंजीवादी औद्योगिक सभ्यता के साभ्यतिक विकल्प के रूप में गांधीजी की प्रासंगिकता विषयक एक महत्त्वपूर्ण वैचारिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करती है।

पी 51, मधुवन पश्चिम किसान मार्ग,
टोंक रोड जयपुर - 302018 (राज.)
दर्शन विभाग
एस.बी. कॉलेज, आरा (बिहार) - 802301

संदर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *ई. एफ. शुमाकर, स्माल इज़ ब्यूटीफुल : अ स्टडी ऑफ इक्नॉमिक्स एज़ इफ पीपुल मैटर्ड, ब्लाँड एण्ड ब्रिग्ज़, 1973; जोसेफ ए कैमिलेरी, सिविलाईजेशन इन क्राईसिस : ह्यूमन प्रॉस्पैक्ट्स इन अ चेंजिंग वर्ल्ड, केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रैस, केम्ब्रिज 1976; हेजल हेंडरसन, क्रियेटिंग आल्टरनेटिव फ्यूचर्स, पैरिजी बुक्स, न्यू यॉर्क, 1978; फ्रिट्जोफ केप्रा, द टर्निंग पॉइंट; हार्पर कॉलिन्स, न्यू यॉर्क, 1983।*
2. *बैरी कॉमनर, मेकिंग ऑफ पीस विद प्लैनेट, डब्ल्यु डब्ल्यु नॉर्टन एण्ड कम्पनी, न्यू यॉर्क सिटी, 1990।*
3. *इस क्रान्ति के सूत्रधार गेलिलेयो गलिलेई और फ्रांसिस बेकन थे।*
4. *फ्रिट्जोफ केपरा, द् टर्निंग पॉईंट, हार्पर कॉलिन्स, न्यू यॉर्क, 1983, पृ 48*
5. *देखें, स्टीवन टोल्मिन, कॉस्मोपोलिस, द हिडन एजेण्डा ऑफ मॉडर्निटी, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रैस, शिकागों, 1992।*
6. *विस्तृत चर्चा के लिए देखें, कैरोलिन मर्चेण्ट, डैथ ऑफ नेचर, हार्पर वन, न्यू यॉर्क, 1989।*
7. *इसके विपरीत भारतीय परम्परा में मनुष्य का स्वरूप आध्यात्मिक था और समाज उसकी अध्यात्म सिद्धि में साधनभूत। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी आध्यात्मिकता के साधक होते थे। वास्तव में ऐसे विरले ही होते थे, किन्तु आदर्श यही था। इसलिए, समाज में सिद्ध, यति, वीतरागी पूज्य थे।*
8. *देखें, पौलीन मैरी रोस्नौ, पोस्टमॉडर्निज़्म ऐंड सोशल सईन्सेज, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रैस, न्यू जेरसी, 1991, प्रथम अध्याय।*
9. *विस्तार के लिए देखें, पी. ए. सोरोकिन, द क्राईसिस ऑफ आवर ऐज, ई. पी. डटन एण्ड कंपनी, न्यू यॉर्क, 1946।*
10. *अम्बिकादत्त शर्मा, सम्पादक, यशदेव शल्य समग्र, खण्ड चार, डी. के. प्रिंट वर्ल्ड, नई दिल्ली 2017, पृ .263।*
11. *डेविड वालेस–वैल्स, दी अनइन्हैबीटेबल अर्थ : अ स्टोरी ऑफ द फ्यूचर, एलन लेन, ऐन इम्प्रिंट ऑफ पेंगुइन बुक्स, लंदन, 2019, पृ .4।*
12. *फ्रांसिस फुकुयामा, 'दी एण्ड ऑफ हिस्टरी?', द नैशनल इन्टरैस्ट, समर 1989।*
13. *देखें, कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र।*
14. *यशदेव शल्य, समाज : दार्शनिक परिशीलन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर (म. प्र.), 2007, पृ. 106।*

15. वॉल्टर कॉउफमान, विदाऊट गिल्ट एण्ड जस्टिस, ऑक्सफर्ड यूनिवेर्सिटी प्रैस, 1972, पृ 3।

16. यशदेव शल्य, समाज... पूर्वोद्धृत, पृ 107।

17. यहाँ नंदकिशोर आचार्य, गांधी हैं विकल्प, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2021, पृ 12 से उद्धृत।

18. वही, पृ 13।

19. वही, पृ 27।

20. विस्तार के लिए देखें, नंदकिशोर आचार्य, 'साम्यवाद का विकल्प पूँजीवाद नहीं,' गांधी हैं विकल्प, पूर्वोद्धृत में संकलित।

21. रोचक व्याख्या के लिए देखें, नंदकिशोर आचार्य, 'न्यासिता : व्यावहारिक और न्यायोचित,' गांधी हैं विकल्प, पूर्वोद्धृत में संकलित।

22. वही, पृ 63।

23. वही, पृ 65।

24. वही, पृ 38।

25. अर्जुन देव, गांधी–नेहरू कॉरेस्पॉडेंस, नेश्नल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2011।

26. देखें, इण्डिया : फ्रॉम कर्जन टू नेहरू एण्ड आफ्टर,, रूपा एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, 1969, पृ 235–236।

अहिंसा की श्रामण्य दृष्टि और गाँधी

राजवीर सिंह शेखावत

"**ह**मारे मार्ग में चाहे जो संकट आएँ, बाह्य–दृष्टि से देखने पर हमारी चाहे जितनी हार होती दिखाई दे, तो भी हमें विश्वास न छोड़कर एक ही मंत्र जपना चाहिए– सत्य है, वही है, वही एक परमेश्वर है। उसके साक्षात्कार का एक ही मार्ग है, एक ही साधन अहिंसा है, उसे कभी न छोड़ेंगे। जिस सत्यरूप परमेश्वर के नाम पर यह प्रतिज्ञा की है, वह हमें इसके पालन का बल दे।"[1]

"सत्य का, अहिंसा का मार्ग जितना सीधा है उतना ही तंग भी, खांडे की धार पर चलने के समान है। नट जिस डोर पर सावधानी से नज़र रखकर चल सकता है, सत्य और अहिंसा की डोर उससे भी पतली है। ज़रा चूके कि नीचे गिरे। पल–पल की साधना से ही उसके दर्शन होते हैं।"[2]

"...अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है जो आज हमारी दृष्टि के सामने है। किसी को न मारना इतना तो है ही। कुविचार मात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत् के लिए जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है।"[3]

– **मोहनदास करमचन्द गाँधी**

भारतीय सभ्यता और संस्कृति तथा उसका आध्यात्मिक रूझान अहिंसा प्रधान रहा है। हिंसा–अहिंसा से सम्बन्धित समस्याएँ प्रत्येक युग में रही हैं और रहेंगी। वैदिक–काल, महाभारत–काल, बुद्ध और महावीर काल, गाँधी और वैसी ही आज भी हिंसा–अहिंसा की समस्या है। इसलिए अहिंसा पर प्रत्येक युग में विभिन्न दृष्टियों से चर्चा होती रही है और आगे भी होती रहेगी। यहाँ हम गाँधी के सन्दर्भ में अहिंसा की चर्चा करेंगे। ज्ञातव्य है कि गाँधी पहले व्यक्ति नहीं हैं जिन्होंने अहिंसा की चर्चा की है, गाँधी से पूर्व

उन्मीलन – वर्ष 37, अंक 2, जुलाई–दिसम्बर 2023
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

अहिंसा की विस्तृत चर्चा वैदिक, जैन, बौद्ध परम्परा में हुई है। गाँधी ने उस पर कुछ नए प्रयोग किए और उसे एक व्यापक अर्थ प्रदान किया तथा अहिंसा की पुनः याद दिलाई, जैसाकि प्रो. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर ने लिखा है, "अहिंसा के विषय में गाँधी के विचार तथा प्रयोग उनसे पहले की परम्परा से अपनी देश–काल– परिस्थिति के कारण ही विशिष्ट हैं। गाँधी जैसे कर्मठ सन्तों का योगदान इस बात में है कि वे हमें एक सच्चाई की याद दिलाते हैं, उस रास्ते की ओर पुनः निर्देश करते हैं, जिसे हम भूल चुके होते हैं।"[4] स्पष्ट है, अहिंसा पर विचार गाँधी से पूर्व भी हुआ है और व्यापक स्तर पर। अतः गाँधी के अहिंसा सम्बन्धी विचारों पर चर्चा से पूर्व गाँधी के पूर्ववर्ती परम्पराओं के अहिंसा सम्बन्धी विचारों की चर्चा अपेक्षित है, और दूसरे इससे गाँधी के विचार अधिक स्पष्ट होंगे और उनके वैशिष्ट्य का निर्धारण भी आसानी से हो पाएगा। गाँधी के पूर्ववर्ती भारत में तीन प्रमुख परम्पराएँ रहीं हैं, जिनमें अहिंसा सम्बन्धी विचार मिलते हैं। वे हैं– वैदिक परम्परा, जैन–परम्परा और बौद्ध–परम्परा।

वैदिक परम्परा में 'अहिंसा' की शास्त्रीय चर्चा मुख्य रूप से पुराण, स्मृति, धर्मशास्त्र और दार्शनिक ग्रन्थों में मिलती है। पुराण, स्मृति आदिग्रन्थों में अहिंसा को 'धर्म' का एक अंग माना गया है और सभी मनुष्यों को उसके पालन का निर्देश दिया गया है। श्रीमद्भागवत महापुराण में धर्म के तीस लक्षणों का प्रतिपादन किया गया है जिसमें से एक 'अहिंसा' है, जैसे कि कहा है, "सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः, अहिंसा ब्रह्मचर्य च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्"[5] "अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता, भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः।"[6] याज्ञवल्क्यस्मृति में भी 'अहिंसा' साधारण धर्म का एक अंग/लक्षण स्वीकार किया गया है। उसमें लिखा है, "अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः, दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्।"[7] स्कन्दपुराण में लिखा है, "सत्यं शौचमहिंसा च क्षान्तिर्दानंदया दमः, अस्तेयमिन्द्रियाकोचः सर्वेषां धर्मसाधनम्।"[8] मनुस्मृति में भी 'अहिंसा' को धर्म का एक लक्षण माना है, जो चारों वर्णों के लिए है। लिखा है, "अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह, एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः।"[9]

पातंजल योगसूत्र में भी 'अहिंसा' की चर्चा हुई है। वहाँ अहिंसा को यम का एक अंग माना है। योगसूत्र में लिखा है, "अहिंसासत्यास्तेय–ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।" "वितर्का हिंसादयः कृतकारिताऽनुमोदिता

लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति, अहिंसा–प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।"[10] इनके अतिरिक्त अहिंसा की चर्चा अन्यान्य ग्रन्थों में भी मिलती है, उन सबकी चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है।

जैन–परम्परा में अहिंसा की चर्चा सबसे अधिक हुई है और प्रत्येक युग में तथा अधिकांश जैन–ग्रन्थों में। वहाँ अहिंसा की चर्चा सम्यक् चारित्र के एक व्रत के रूप में और सामाजिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही सन्दर्भों में हुई है। जैन–परम्परा में यह प्रश्न उठाया गया है कि 'हिंसा' क्या है?इसके समाधान में कहा गया है कि किसी प्राणी को प्राण–विहीन करना, दूसरे से प्राण–विहीन करवाना या किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा किसी प्राणी को प्राण–विहीन करते हुए देखकर उसका अनुमोदन करना।[11] किसी प्राणी पर शासन करना, दास बनाना, किसी भी प्रकार की पीड़ा देना, सताना, अशान्त करना हिंसा है।[12] आचारांग के अनुसार किसी प्राणी को प्राण–विहीन कर देना ही हिंसा नहीं है अपितु किसी भी प्राणी की स्वतंत्रता का किसी भी रूप में हनन भी हिंसा है।[13] यहाँ ध्यान देने की बात है कि आचारांग में प्राणी या जीव को मनुष्य, पशु–पक्षी और कीट–पतंगों के अर्थ में ही नहीं, अपितु प्राणी या जीव को व्यापक अर्थ में लिया गया है, जिसमें उन जीवों का भी समावेश हो जाता है जिन्हें सामान्यतः जड़ या अजीव कहते हैं। आचारांग में उन सभी जीवों को छः वर्गों में रखा है। वे वर्ग हैं – पृथ्वीकाय जीव, जलकाय जी, अग्निकाय जीव, वायुकाय जीव, वनस्पतिकाय जीव और त्रसकाय जीव।[14] यहाँ प्रश्न उठता है कि पृथ्वीकाय जीवों के अस्तित्व को कैसे स्वीकार किया जाए?इसके समाधान में कहा गया है कि जिस प्रकार तुम्हारी सत्ता है उसी प्रकार उन जीवों की भी सत्ता है; अर्थात् उन जीवों के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता; क्योंकि उनके अस्तित्व को नकारने का अर्थ है स्वयं की आत्मा के अस्तित्व को नकारना। जैसा कि आचारांग में कहा गया है कि "जो अन्य जीवों के अस्तित्व का निषेध करता है वह अपने अस्तित्व का निषेध करता है, जो अपने अस्तित्व का निषेध करता है वह अन्य जीवों के अस्तित्व का निषेध करता है।"[15] इससे फलित होता है कि उन जीवों की सत्ता है। आचारांग में उन सभी जीवों की हिंसा का निषेध है; न कि किन्हीं विशेष जीवों की हिंसा का– अर्थात् उन सभी जीवों की न तो स्वयं हिंसा करें, न दूसरे से करवाएँ और न ही अनुमोदन करें।"[16] किन्तु प्रश्न है कि किसी भी जीव की हिंसा नहीं की जाए तो क्यों नहीं की जाए?अर्थात् वे कौन से कारण

हैं जिनके कारण हिंसा का त्याग करना चाहिए? आचारांग में हिंसा त्याग के अनेक कारण बतलाए गए हैं, जिनमें से मुख्य कारण है 'कर्मबन्ध' अर्थात् हिंसा से जीव का, जिसने हिंसा की है, कर्मबन्ध होता है।[17] कर्मबन्ध से जीव के शुद्ध स्वरूप में न्यूनता आ जाती है; अर्थात् कर्मों से जीव का स्वरूप विकृत हो जाता है, जिसके कारण वह जन्म–मरण के चक्कर में पड़ा रहता है।

दूसरे, हिंसा मोह का कारण है।[18] अर्थात् हिंसा राग–द्वेष का कारण है। यद्यपि यह माना जाता है कि हिंसा का कारण राग–द्वेष है, किन्तु आचारांग में हिंसा को राग–द्वेष का कारण माना है।[19] यह ठीक है कि राग–द्वेष के कारण हिंसा होती है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि हिंसा के पश्चात् राग–द्वेष नहीं रहते हैं तथा न ही उत्पन्न होते हैं। वास्तविकता यह है कि हिंसा के पश्चात् राग–द्वेष पहले की अपेक्षा अधिक उत्पन्न होते हैं। इसलिए आचारांग में हिंसा को मोह या राग–द्वेष का कारण माना गया है। राग–द्वेष और कर्मबन्ध के कारण जीव के शुद्ध स्वरूप पर कर्मों का आवरण आ जाता है, अर्थात् हिंसा से कर्मबन्ध और राग– द्वेष उत्पन्न होते हैं तथा राग–द्वेष से जीव का कर्म पुद्गलों से बन्ध हो जाता है जिससे उसके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति में न्यूनता आ जाती है। न्यूनता के कारण वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं कर सकता है अर्थात् हिंसा दर्शनबोधि, ज्ञानबोधि और चरित्रबोधि की अनुपलब्धि के कारण हैं।[20] इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि हिंसा के कारण जीव त्रिरत्न की प्राप्ति नहीं कर सकता है और जो पहले से प्राप्त है उसमें भी न्यूनता आ जाती है। त्रिरत्न के बिना जीव अपने यथार्थ एवं शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता, अर्थात् हिंसा के कारण जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है।[21] अर्थात् जो अहिंसा का पालन करता है उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है और इसके विपरीत जो हिंसा करता है उसे नरक की प्राप्ति होती है।[22]

जैन दार्शनिक स्वर्ग और नरक की कल्पना करते हैं तथा यह मानते हैं कि जो जीव अच्छे कर्म करता है उसे स्वर्ग मिलता है, वहाँ वह सुख भोगता है और जो बुरे कर्म करता है उसे नरक मिलता है, वहाँ उसकी हिंसा की जाती है। कोई व्यक्ति यदि किसी प्राणी की हिंसा करता है उसे, जिसने हिंसा की, नरक में जाना पड़ता है तथा वहाँ फिर उसकी हिंसा की जाती है।

यहाँ प्रश्न है कि यह कैसे कहा जाए कि स्वर्ग और नरक की सत्ता है?यदि कुछ समय के लिए इस कल्पना को कि स्वर्ग एवं नरक है तथा वहाँ सुख–दुःख भोगने पड़ते हैं, न भी स्वीकार करें तब भी यह सिद्ध नहीं होता है कि हिंसा त्याज्य नहीं है; क्योंकि यह अकरणीय है।[23] इसलिए कि हिंसा क्रिया भी है और फल भी। जो क्रिया है वे सब त्याज्य हैं;[24] क्योंकि क्रिया हिंसा और संसार का कारण है तथा अक्रिया मोक्ष का।[25]

यहाँ कहा जा सकता है कि न तो स्वर्ग है, न नरक है, न कर्मबन्ध और न ही मोक्ष। तब हिंसा त्याज्य कैसे हो सकती है? इसके समाधान में कहा गया है कि यदि कुछ समय के लिए उन्हें नहीं भी मानें, तब भी हिंसा त्याज्य है; क्योंकि उससे अहित होता है।[26] अहित दो प्रकार का होता है – 'स्व' अहित और 'पर' अहित। 'स्व' अहित में हिंसा करने वाला सदैव अशान्त और भयभीत रहता है, जिससे उसका जीवन दुःखमय हो जाता है। 'पर' अहित में हिंसा मृत्यु का कारण है।[27] अर्थात् हिंसा से, जिस जीव की हिंसा की जाती है, उसे प्राण रहित कर दिया जाता है, जबकि सब जीवों को अपना–अपना जीवन प्रिय है और मृत्यु अप्रिय; अर्थात् कोई भी जीव मरना नहीं चाहता है।[28] दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार तुम मरना नहीं चाहते हो उसी प्रकार दूसरे प्राणी भी मरना नहीं चाहते हैं; अर्थात् सभी प्राणी जीना चाहते हैं। यही नहीं, प्रत्येक प्राणी जीवन के साथ 'अभय' चाहते हैं। अर्थात् जिस प्रकार तुम्हें अभय प्रिय है और भय अप्रिय है, उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी अभय प्रिय है और भय अप्रिय, अर्थात् सभी प्राणी अभय चाहते हैं।[29] किन्तु हिंसा से अभय का हनन होता है।

पुनः कहा जा सकता है कि किसी व्यवस्था या मूल्यों की रक्षा के लिए किसी जीव विशेष की हिंसा की जाए, तब उस हिंसा में क्या दोष है?इसके समाधान में कहा जा सकता है कि जिस व्यवस्था या मूल्यों की रक्षा हिंसा से सम्भव है कि वह वास्तविक अर्थ में व्यवस्था या मूल्य है ही नहीं; क्योंकि हिंसा से व्यवस्था या मूल्यों की रक्षा नहीं, ह्रास होता है। हिंसा को आमंत्रित करते हैं तथा दूसरी ओर उस हिंसा को जिससे पहली हिंसा को मिटाया गया है, मिटाने के लिए तीसरी हिंसा की आवश्यकता पड़ती है और तीसरी के लिए चौथी हिंसा की। इस प्रकार यह निरन्तर चलने वाली हिंसा है, जिससे व्यवस्था या मूल्यों की रक्षा कैसे सम्भव है?

दूसरे, जब किसी जीव विशेष की हिंसा की जाती है तब वह हिंसा केवल उस एक जीव विशेष की ही हिंसा नहीं होती है, अपितु उसके आश्रय में रहने वाले अन्य जीवों की भी हिंसा होती है। अर्थात् अनेक जीव ऐसे हैं जो अन्य जीवों के शरीर के आश्रय में रहते हैं। ऐसी स्थिति में उस एक जीव की, जिसके आश्रय में अन्य जीव रहते हैं, हिंसा करने से उसके आश्रय में रहने वाले जीवों की भी हिंसा होती है।[30] तब, प्रश्न उठता है कि उन अन्य जीवों की हिंसा क्यों?

तीसरे, 'हिंसा' हिंसा ही नहीं, वह चोरी भी है;[31] क्योंकि हिंसा भी जीवों के प्राणों का हरण होता है और दूसरे के प्राणों पर हिंसक का कोई अधिकार नहीं होता है। अर्थात् जिन प्राणियों की हिंसा की जाती है उनके प्राणों का स्वामी हिंसक नहीं होता है। जो वस्तु जिस स्वामी की है उसके दिए बिना लेना चोरी है और हिंसा में ऐसा ही होता है। अतः सिद्ध होता है कि हिंसा चोरी है, जो त्याज्य है।

हिंसा निषेध के पक्ष में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तर्क यह दिया जाता है कि हिंसा से जीवों को वेदना या कष्ट होता है और वेदना से दुःख।[32] वेदना और दुःख जीवों को अप्रिय और प्रतिकूल है तथा सुख प्रिय और अनुकूल है। अर्थात् दुःख, भय और अशान्ति रूप है,[33] जिसे कोई भी जीव नहीं चाहता है। यहाँ प्रश्न उठाया जा सकता है कि जो एकेन्द्रिय जीव हैं, जैसे पृथ्वीकाय जीव, अग्निकाय जीव, वनस्पतिकाय जीव आदि, उनके बारे में कैसे कह सकते हैं कि उनको वेदना होती है तथा वेदना का अनुभव भी होता है; क्योंकि वे न तो चलते हैं, न बोलते हैं, न देखते हैं और न ही सुनते हैं?इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जैसे मनुष्य को वेदना का अनुभव होता है वैसे ही एकेन्द्रिय जीवों को भी वेदना का अनुभव होता है; क्योंकि उनमें चेतना है और जहाँ भी चेतना है वहाँ वेदना का अनुभव है। अन्तर केवल इतना है कि एकेन्द्रिय जीव वेदना को दूसरों के सामने अभिव्यक्त नहीं कर सकते हैं, जबकि मनुष्य आदि वेदना को अभिव्यक्त कर सकते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि पृथ्वीकाय आदि जीवों को वेदना का अनुभव होता है।

आचारांग में तीन दृष्टान्तों द्वारा इस बात को सिद्ध किया गया है कि पृथ्वीकाय जीवों को वैसे ही वेदना का अनुभव होता है जैसे मनुष्य को।[34] अर्थात् जैसे किसी के पैर, टखने, जंघा, भुजा, कमर, नाभि, उदर, पसली, पीठ, गाल, नासिका, आँख, ललाट, सिर आदि का छेदन–भेद करे, तब उसे

जैसी पीड़ा का अनुभव होता है वैसे ही पीड़ा का अनुभव पृथ्वीकाय जीवों को होता है। किन्तु मनुष्य उस पीड़ा को दूसरों के सामने अभिव्यक्त कर देता है और पृथ्वीकाय जीव उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकते हैं। एक दूसरा दृष्टान्त है, जिसमें मनुष्य भी अपनी वेदना को दूसरों के सम्मुख अभिव्यक्त नहीं कर सकता है, जैसे कोई मनुष्य जन्म से अंधा, बहरा, गूंगा, और पंगु है उस मनुष्य को यदि कोई तलवार आदि से पीड़ा दे, तब वह न तो देख सकता है, न सुन सकता है, न कह सकता है और बचने के लिए भी कहीं नहीं जा सकता। तब क्या उस व्यक्ति के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि उसे वेदना का अनुभव नहीं होता है। अर्थात् जिस प्रकार स्पर्शेन्द्रिय के अतिरिक्त इन्द्रियों का अभाव होने पर भी व्यक्ति को स्पर्श सम्बन्धी वेदना का अनुभव होता है किन्तु उसे प्रकट नहीं कर सकता है, ठीक उसी प्रकार स्पर्श इन्द्रिय से युक्त होने तथा अन्य इन्द्रियों का अभाव होने पर भी पृथ्वीकाय आदि जीवों को वेदना का अनुभव होता है।

वनस्पतिकाय जीव सजीव हैं तथा वेदना का अनुभव करते हैं, इस बात को सिद्ध करने के लिए आचारांग में वनस्पतिकाय जीवों के शरीर और मनुष्य शरीर में समानता बतलाई है। समानता बतलाते हुए कहा गया है कि जैसे मनुष्य जन्म लेता है, बढ़ता है, चेतनायुक्त है, आहार करता है, उसका शरीर उपचित–अपचित होता है, वैसे ही वनस्पति जन्म लेती है, बढ़ती है, चेतनायुक्त है, आहार करती है, उसका शरीर उपचित–अपचित होता है, अनित्य है तथा अनेक प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त होता है।[35] इसके आधार पर कहा जा सकता है कि वनस्पतिकाय जीवों को भी वेदना होती है।

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट होता है कि एकेन्द्रिय जीवों को, अन्य जीवों की तरह वेदना तथा वेदना का अनुभव होता है। अतः एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा भी निषिद्ध है।

ध्यातव्य है कि आचारांग में त्रस जीवों की हिंसा के त्याग के साथ–साथ उपेक्षित जीवों पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय जीवों की हिंसा के त्याग पर विशेष बल दिया है। सम्भवतः इसके निम्नलिखित कारण हो सकते हैं– पहले, अधिकतर लोग इस बात से अनभिज्ञ होते हैं कि एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय आदि जीव होते हैं। दूसरे यदि वे यह जानते हैं कि पृथ्वीकाय आदि जीव हैं, तब वे इस बात से अनभिज्ञ होते हैं कि उनको वेदना होती है। तीसरे, यदि कोई इन बातों को जानता है, तब

भी वे उन जीवों को अधिक महत्त्व नहीं देते हैं। चौथे, उन जीवों की हिंसा सबसे अधिक होती है। ये चार कारण प्रकाश में आए हैं। इन कारणों के अतिरिक्त भी कारण हो सकते हैं, जिनके कारण उन जीवों की हिंसा–त्याग पर विशेष बल दिया गया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि हिंसा से जीवों को वेदना और दुःख होता है। किन्तु इस पर हिंसक व्यक्ति कह सकते हैं कि हिंसा से हमें तो सुख मिलता है। तब, हिंसा त्याज्य कैसे हो सकती है? इसके समाधान में कहा गया है कि जैसे तुम्हें हिंसा से सुख मिलता है वैसे ही उन जीवों को, जिनकी तुम हिंसा करते हो, दुःख होता है और तुम सुख चाहते हो, दुःख नहीं, वैसे ही वे जीव सुख चाहते हैं दुःख नहीं। अर्थात् जिस प्रकार तुम्हें सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है उसी प्रकार दूसरे प्राणियों को सुखप्रिय है और दुःख अप्रिय है।[36] अतः तुम दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम दूसरों से चाहते हो।

दूसरे, जिसकी तुम हिंसा करना चाहते हो उसमें और तुम में कोई भेद नहीं है। दोनों का तात्त्विक स्वरूप एक है, जैसी प्रकृति या स्वभाव तुम्हारा है, वैसा ही अन्य जीवों का है, जैसा तुम चाहते हो वैसा ही वे चाहते हैं। इसी सन्दर्भ में आचारांग में कहा गया है,[37] कि तू वही है जिसे तू मारने योग्य मानता है, तू वही है जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, तू वही है जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है, तू वही है जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है। अतः किसी जीव की न स्वयं हिंसा करें, न किसी दूसरे से करवाएँ और न हिंसा करते हुए को देखकर अनुमोदन करें।

इस प्रकार उपर्युक्त चर्चा के आधार पर कहा जा सकता है कि हिंसा त्याज्य है। किन्तु वहाँ प्रश्न है हिंसा का त्याग कैसे किया जाए? अर्थात् हिंसा का त्याग करने के लिए क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए? इस प्रश्न के समाधान के पूर्व दो अन्य प्रश्नों का समाधान आवश्यक है कि हिंसा का निमित्त या हेतु क्या है? दूसरे किस प्रकार के व्यक्ति हिंसा करते हैं और किस प्रकार के व्यक्ति हिंसा नहीं करते हैं? इसे यों भी कहा जा सकता है कि व्यक्ति कब हिंसा करते हैं और कब नहीं? पहले प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि वर्तमान जीवन की रक्षा के लिए, प्रशंसा, सम्मान, पूजा के लिए, जन्म–मृत्यु सम्बन्धी प्रसंगों के लिए, परम शान्ति प्राप्त करने के लिए, दुःखों को दूर करने के लिए और कुछ व्यक्ति

निष्प्रयोजन ही हिंसा करते हैं। ये हिंसा के निमित्त है।[38] दूसरे प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि जो हिंसा के परिणामों को नहीं जानते हैं तथा दूसरे के दुःखों का अनुभव अपने दुःखों के अनुभव की तरह नहीं करते हैं, वे व्यक्ति हिंसा करते हैं और जो हिंसा के परिणामों को जानते हैं तथा दूसरे के दुःखों का अनुभव अपने दुःखों के अनुभव की तरह करते हैं, ये हिंसा नहीं करते हैं।[39]

अब, इस प्रश्न, हिंसा–त्याग के लिए क्या करना चाहिए? इसके समाधान में कहा जा सकता है कि सबसे पहले हिंसा के निमित्त या हेतुओं को जानें तथा उनको त्यागें; क्योंकि वे हिंसा के निमित्त के साथ–साथ राग–द्वेष और परिग्रह हैं जो त्याज्य हैं। दूसरे, हिंसा के परिणामों को जानें; क्योंकि जो उसके परिणामों को जानता है वह हिंसा नहीं करता है। हिंसा के परिणाम क्या हैं? इस प्रश्न का समाधान ऊपर किया जा चुका है। तीसरे, अपने से भिन्न जीवों के दुःखों का अनुभव करें, अर्थात् उनके दुःखों को अपने दुःखों के समान जानें, अर्थात् जैसे मेरी हिंसा करने पर मुझे दुःख होता है उसी प्रकार अन्य जीवों को दुःख होता है, ऐसा जानें। चौथे, समता का पालन करें अर्थात् सभी जीवों पर समभाव रखें, सभी जीवों को अपने तुल्य समझें।[40] पाँचवें, पाँच भावनाओं का पालन करें अर्थात् विवेकपूर्वक गमन करें, मन को खुश रखें, निर्दोष भाषा का प्रयोग करें, शारीरिक क्रियाएँ विवेकपूर्वक करें और शुद्ध एवं विवकेपूर्वक आहर–पानी ग्रहण करें।[41]

अन्त में, संक्षेप में कहा जा सकता है कि किसी भी जीव या प्राणी की स्वतंत्रता का किसी भी रूप में हनन हिंसा है, जिसे कर्मबन्ध, मोह, नरक, दुःख, चोरी, अशान्त, अबोधि, अहित आदि का कारण जानकर निषेध करें। निषेध के लिए उसके हेतुओं को जानकार त्यागें, उसके परिणामों को जानें, दूसरों के दुःखों का अनुभव करें, सब जीवों पर समभाव रखें और सभी क्रियाओं को विवेकपूर्वक करें।

बौद्ध–परम्परा में तत्त्वमीमांसा की तीन अलग–अलग दृष्टियाँ होने के कारण अहिंसा की चर्चा तीन दृष्टियों से ही सम्भव है, किन्तु अहिंसा की मिलिन्द–प्रश्न में हुई चर्चा महत्त्वपूर्ण है। अतः उसे यहाँ मूलरूप में प्रस्तुत किया जा रहा है –

"भन्ते नागसेन! भगवान् ने यह कहा है,

"किसी की हिंसा न करते हुए प्यार से आपस हिल मिलकर रहो।"

साथ ही साथ यह भी कहा है–'जो दण्ड दिए जाने के योग्य हैं, उन्हें दण्ड दो; जो साथ दिए जाने के योग्य हैं उनका साथ दो।'

भन्ते! 'दण्ड देने' का अर्थ है, हाथ काट देना, पैर काट देना, मार डालना, जेल में डालना, मारना–पीटना, या देश–निकाला देना। भगवान् को यह बात नहीं कहनी चाहिए; और वे कह भी नहीं सकते।

भन्ते! यदि भगवान् ने कहा है कि –

"किसी की हिंसा न करते हुए
प्यार से आपस में हिलमिल कर रहो।"

तो वे यह नहीं कह सकते कि "जो दण्ड दिए जाने के योग्य है, उन्हें दण्ड दो।" और यदि उन्होंने यह ठीक कहा है कि – "जो दण्ड दिए जाने के योग्य है उन्हें दण्ड दो" तो यह कभी नहीं कहा होगा कि –

"किसी की हिंसा न करते हुए
प्यार से आपस में हिलमिल कर रहो।"

यह भी एक दुविधा है, जो आपके पास रक्खी जाती है। आप इसको साफ कर दें।

महाराज! भगवान् ने ऐसा ठीक कहा है – "किसी की हिंसा न करो।" और यह भी कहा है कि –

"जो दण्ड दिए जाने के योग्य हैं उन्हें दण्ड दो,
जो साथ दिए जाने के योग्य हैं उनका साथ दो।"
"किसी की हिंसा न करते हुए
प्यार से आपस में हिल मिलकर रहो।"

महाराज! सभी बुद्धों को यह उपदेश है, यह धर्म–देशना है। अहिंसा तो धर्म का प्रधान लक्षण है। बुद्ध के ये स्वाभाविक वचन हैं। महाराज! और जो उन्होंने कहा है – "जो दण्ड दिए जाने के योग्य है।" उसका मतलब कुछ दूसरा ही है। महाराज! उसका मतलब यह है –– उद्धत चित्त को दबाना चाहिए, शान्त हो गए चित्त को वैसा ही बनाए रखना चाहिए, वे ठीक मन को दबाना चाहिए, ठीक मन को बनाए रखना चाहिए; झूठे सिद्धान्तों को दबाना चाहिए, सच्चे धर्म को बनाए रखना चाहिए; बुरों को दबाना चाहिए, भलों को बनाए रखना चाहिए; चोर को दबाना चाहिए, साधु को बनाए रखना चाहिए।

भन्ते नागसेन! हाँ, अब आप मेरी बात से पकड़े गए। मैं जो पूछना चाहता था वह अर्थ निकल गया। भन्ते! यह ठीक है कि चोर को दबाना चाहिए, किन्तु कैसे ?

महाराज! चोर को इस तरह दबाना चाहिए—यदि उसे डाँट—डपट करना उचित हो तो डाँट—डपट करना चाहिए, दण्ड देना उचित हो तो दण्ड देना चाहिए, देश से निकाल देना उचित हो तो देश से निकाल देना चाहिए, और यदि फाँसी दे देना उचित हो तो फाँसी दे देनी चाहिए।

भन्ते! जो चोरों को फाँसी दे देने की बात है, वह क्या बुद्ध—धर्म के अनुकूल है? नहीं महाराज!

तो बुद्ध—धर्म के अनुकूल चोरों को कैसे दबाना चाहिए?

महाराज! जो चोरों को फाँसी दी जाती है वह बुद्ध—धर्म के आदेश करने से नहीं, बल्कि उनकी अपनी करनी से। महाराज! क्या धर्म ऐसा आदेश करता है कि कोई बुद्धिमान किसी बेकसूर आदमी को बेवजह सड़क पर जाते हुए पकड़ कर जान से मार दे?

नहीं भन्ते! क्यों नहीं?

भन्ते! क्योंकि उसने कोई कसूर ही नहीं किया है।

महाराज! इसी तरह, बुद्ध—धर्म के आदेश करने से चोरों को फाँसी नहीं दी जाती, किन्तु उनकी अपनी करनी से। तो क्या बुद्ध को इससे कोई दोष लग सकता है?

नहीं भन्ते! देखते हैं, बुद्धों के उपदेश सदा उपयुक्त ही होते हैं। ठीक कहा है भन्ते नागसेन! मैं स्वीकार करता हूँ।"[42]

अब हम गाँधी के अहिंसा सम्बन्धी विचारों पर आते हैं। गाँधी की अहिंसा की अवधारणा उनकी 'सत्य' की अवधारणा के साथ जुड़ी हुई है; क्योंकि उनमें साधन—साध्य का सम्बन्ध है। गाँधी के अनुसार सत्य साध्य है और अहिंसा साधन। सत्य की खोज एवं साक्षात्कार का एक ही साधन है 'अहिंसा', जैसाकि गाँधी ने लिखा है, "इतना तो सबको समझ लेना चाहिए कि अहिंसा के बिना सत्य की खोज असम्भव है।" ..सत्य है, वही है, वही एक परमेश्वर है। उसके साक्षात्कार का एक ही मार्ग है, एक ही साधन अहिंसा है।"[43] यहाँ प्रश्न उठता है कि गाँधी के अनुसार अहिंसा का क्या अर्थ है? ध्यातव्य है, गाँधी ने अहिंसा को व्यापक अर्थ में लिया है। उन्होंने उसे प्राणी हत्या, कुविचार, उतावली, मिथ्या भाषण, द्वेष, बुरे भाव, कब्जा आदि के

व्यापक सन्दर्भ में लिया है। इस सन्दर्भ में लिखा है, "यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है जो आज हमारी दृष्टि के सामने है। किसी को न मारना इतना तो है ही। कुविचार मात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत् के लिए जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है।"[44] अहिंसा के इस अर्थ सन्दर्भ को प्रो. रामजीसिंह बहुत स्पष्ट किया है। उनके अनुसार अहिंसा न केवल एक विध्यात्मक एवं विशद् अवधारणा है, अपितु वह विशिष्ट संस्कृति, धर्म, न्याय के अर्थ में अहिंसा के प्रमुख तथाकथित विकल्प हिंसा के स्वरूप तथा बल को समझें, तथा उसके विरुद्ध अहिंसा के स्वरूप तथा बल की जाँच करें।[45]

गाँधी ने अहिंसा के मार्ग को सीधा और तंग एवं दुःख भरा मानते हुए एक चोर के उदाहरण से स्पष्ट करने का प्रयास किया है तथा हर हाल में अहिंसा के पालन की बात की है। ऐसा करने पर गाँधी के अनुसार चोर साहुकार बन जाता है, हमें सत्य के अधिक स्पष्ट दर्शन होंगे, सत्य की महिमा अधिक समझ में आएगी, शान्ति–सुख बढ़ेगा, साहस और हिम्मत बढ़ेगी, शाश्वत–अशाश्वत का भेद समझ में आएगा, कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का विवके हो जाएगा, गर्व गल जाएगा, नम्रता बढ़ेगी, परिग्रह अपने आप घट जाएगा और देह के अन्दर का मैल कम हो जाएगा।[46] गाँधी के अनुसार व्यक्ति को अहिंसा को बिसर जाने के बराबर है। उन गुत्थियों को जब सुलझना होगा, तब वे अपने–आप सुलझ जाएँगी। दूसरे, अहिंसा प्रतिक्षण काम करने करने वाली प्रचण्ड शक्ति है। उसकी परीक्षा हमारे प्रतिक्षण के कार्य में, प्रतिक्षण के विचार में हो रही है।[47]

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट होता है कि गाँधी की अहिंसा की अवधारणा तीनों परम्पराओं से भिन्न एवं व्यापक है और यही उसका वैशिष्ट्य है। किन्तु यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि जिसे सत्य की खोज नहीं करनी, सत्य का साक्षात्कार नहीं करना उसके लिए अहिंसा के क्या मायने होंगे?

दर्शन-शास्त्र विभाग
एम.एस.जे. राजकीय महाविद्यालय, भरतपुर (राज.)

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *धर्मनीति, मो.क.गाँधी,पृ.98, सस्ता साहित्य मण्डल, प्रकाशन, नई दिल्ली,*

2. वही, पृ. 96.
3. वही, पृ. 97.
4. भाषा, समाज और संस्कृति, राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, पृ. 59, अनन्त पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2016.
5. श्रीमद्भागवत–महापुराण, 1.7.11.8, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2051.
6. वही, 2.11.17.21.
7. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.122.
8. स्कन्दपुराण, काशीखण्ड पूर्वार्द्ध, 40.86.
9. मनुस्मृति, 10.63, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 1991.
10. योगदर्शनम्, सूत्र 2.30 एवं सूत्र 2.34ए 2.35ए विजयकुमार? गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 1991.
11. आचारांग, सूत्र 1.1.2.13,1.1.3.24, 1.1.3.35, 1.1.5.43 व 1.1.5.47, श्रीआगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1980.
12. वही, सूत्र 1.1.2.13ए 1.1.3.21ए 1.1.4.38 व 1.5.5.170.
13. आचारांग–चयनिका, प्रस्तावना, पृ. (iii).
14. आचारांग सूत्र, सूत्र 1.1.2.10, 1.1.2.13, 1.1.3.23, 1.1.3.24, 1.1.4.32, 1.1.5.42, 1.1.6.49, 1.1.7.58 व 1.1.7.62.
15. वही, सूत्र 1.1.3.22 व 1.1.4.32.
16. वही, सूत्र 1.1.2.17ए 1.1.3.30ए 1.1.5.47ए 1.1.6.54ए 1.1.7.61ए 1.1.7.62ए 1.4.2.138 व 1.5.3.160.
17. आचारांग सूत्रम्, आचार्य श्री आत्माराम जी, जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, 1963, सूत्र 1.1.3.31ए 1.1.4.37ए 1.1.4.32ए 1.1.5.46ए 1.1.6.53ए 1.1.7.59ए 1.2.2.77.
18. आचारांग सूत्रम्, (ब्यावर), सूत्र 1.1.2.14ए 1.1.3.25ए 1.1.4.36ए 1.1.5.44ए 1.1.6.52ए 1.1.7.59.
19. वही, सूत्र 1.1.2.14, 1.1.4.36 व 1.1.5.44.
20. वही, सूत्र 1.1.2.13, 1.1.4.35ए 1.1.5.43ए 1.1.6.51ए 1.1.7.58.
21. आचारांग सूत्र, (लुधियाना), सूत्र 1.3.2.7, 1.3.2.8.
22. आचारांग सूत्रम्, (ब्यावर), सूत्र 1.1.2.14, 1.1.3.25, 1.1.4.36, 1.1.6.52, 1.1.7.59.
23. वही, सूत्र 1.1.7.62.
24. वही, सूत्र 1.1.1.5.
25. वही, हिन्दी व्याख्या, पृ. 6.

26. वही, सूत्र 1.1.2.13, 1.1.4.35, 1.1.5.43, 1.1.6.51, 1.1.7.58.
27. आचारांग सूत्र, (लुधियाना), सूत्र 1.1.4.37, 1.1.4.46.
28. वही, सूत्र 1.2.3.81.
29. आचारांग सूत्रम्, (ब्यावर), सूत्र 1.1.5.40.
30. वही, सूत्र 1.1.2.12, 1.1.2.14, 1.1.3.23, 1.1.4.34, 1.1.7.59.
31. वही, सूत्र 1.1.3.26.
32. वही, सूत्र 1.1.6.49.
33. आचारांग सूत्र, (लुधियाना), सूत्र 1.1.6.51, 1.2.3.81, 1.3.3.116.
34. आचारांग सूत्रम्, (ब्यावर), सूत्र 1.1.2.15.
35. वही, सूत्र 1.1.5.45.
36. आचारांग सूत्र, (लुधियाना), सूत्र 1.1.6.51, 1.3.3.116.
37. आचारांग सूत्रम्, (ब्यावर), सूत्र 1.5.5.170.
38. वही, सूत्र 1.1.1.7ए 1.1.2.10ए 1.1.2.13ए 1.1.3.24ए 1.1.4.36ए 1.1.4.36ए 1.1.5.43ए 1.1.6.51ए 1.1.6.52ए 1.1.6.58.
39. वही, सूत्र 1.1.2.16ए 1.1.3.29ए 1.1.4.38ए 1.1.5.46ए 1.1.6.53ए 1.1.5.60.
40. आचारांग सूत्र, (लुधियाना), गाथा 1.3.3.10.
41. वही, सूत्र 2.15.1ए 2.15.2ए 2.15.3ए 2.15.4ए 2.15.5.
42. मिलिन्द–प्रश्न, 4.3.30, पृ. 224 से 226, भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद्, लंकारामय श्रावस्ती, बलरामपुर, गोंड, 1972.
43. धर्मनीति, मो.क.गाँधी, पृ. 98.99, सस्ता साहित्य मण्डल, प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013.
44. वही, पृ. 97.
45. भाषा, समाज और संस्कृति, राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, पृ. 59, अनन्त पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2016.
46. धर्मनीति, मो.क.गाँधी, पृ. 97, सस्ता साहित्य मण्डल, प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013.
47. वही, पृ. 180.181.